आधुनिक विचार और शिक्षा

आधुनिक विचार और शिक्षा

नन्दकिशोर आचार्य

मूल्य : साठ रुपये / प्रथम संस्
तेलीवाड़ा, बीकानेर / मुद्रक : व

Adhunik Vichar Aur Shiksh.

भाई अनिल वोदिया के लिए

अनुक्रम

खंड 1 : दृष्टि : आधारभूमि

खंड 2: प्रक्रिया और स्वरूप

आधुनिक दार्शनिकता की आधार-भूमि

आधुनिक दर्शन क्या है—बल्कि दर्शन मे आधुनिक होने के क्या मानी हो सकते है ? सामान्य अर्थों मे दर्शन वास्तविकता (रिएलिटी) का तात्त्विक विश्लेषण है। इसमें आधुनिक और अनाधुनिक क्या हो सकता है ? 'आधुनिक' कोई मूल्यवाची शब्द नही है। लेकिन वह कालवाची भी नही है। यदि आधुनिक का अर्थ केवल वर्तमान काल से ही सम्बद्ध होता तब तो इस काल के हर चिन्तक को आधुनिक मान लिया जाना चाहिए। लेकिन हम ऐसा नही मानते और उन चिन्तकों को परम्परावादी ही कहते हैं जो पारम्परिक दर्शन और तर्क प्रणाली मे आज भी विश्वास करते हैं। तब क्या आधुनिक दर्शन का मतलब परम्परा से अलग होना है ? कहा जाता है कि विचारो की दुनिया मे कुछ भी पूर्णत नया नही होता। यही कारण है कि आधुनिक दर्शन-प्रणाली के बीज प्राचीनतम दर्शन-परम्परा मे मिल जाते हैं। मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दोनों के बीज प्लेटो के विचारों म तलाशे जाते हैं—बल्कि ह्वाइटहेड के इस कथन का स्मरण करना अधिक उपयोगी होगा कि यूरोपीय दर्शन के पच्चीस सौ वर्ष प्लेटो के दर्शन की पाद-टिप्पणियो के अतिरिक्त कुछ नही हैं। सवाल उठना चाहिए कि फिर दर्शन के आधुनिक होने का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? आधुनिक दर्शन कोई एक विचार नही है। कई तरह की ऐसी दर्शन-सरणिया विकसित हुई हैं जो अपने कई निष्कर्षों और व्याप्तियो म न केवल एक-दूसरे से भिन्न बल्कि परस्पर विरोधी भी हैं और वे सभी आधुनिक होने का दावा करती हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक दर्शन—बल्कि आधुनिक दार्शनिकता कहना ज्यादा सही होगा—कोई विशिष्ट दर्शन-सरणि नहीं है। यह एक दार्शनिक प्रवृत्ति (फिलासॉफिकल एटीट्यूट) है जो मध्यकालीन दार्शनिकता से अलग है। यह कोई ऐतिहासिक कालक्रम से जुड़ी हुई नहीं है लेकिन एक दार्शनिक प्रवृत्ति की मुख्य धारा के रूप म इसका विकास यूरोप मे पुनर्जागरण से शुरू होता है। आधुनिक दार्शनिकता को किसी भौगोलिक सीमा मे नही बाधा जा सकता लेकिन यूरोप ही इसका मुख्य केन्द्र रहा क्योंकि पुनर्जागरण के बाद बौद्धिक विकास की प्रक्रिया सर्वाधिक तीव्र गति से वहीं प्रभावी रही।

तर्कप्रधानता और मानववाद प्राचीन यूनानी मानस की विशिष्ट प्रवृत्तियां थी, जिनका असर रोम पर भी रहा। लेकिन ईसाई धर्म की प्रतिष्ठापना के बाद तर्कप्रधानता का स्थान शास्त्रनिष्ठा और मानववाद का स्थान धार्मिक रहस्यात्मकता ने ले लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्यकालीन दार्शनिकता में मानवीय विवेक और अनुभव की बजाय 'शब्द प्रमाण' महत्त्वपूर्ण हो गया। यही कारण रहा कि धार्मिक मामलो मे ईसाई धर्मग्रंथ और अन्य मामलो मे अरिस्टॉटल को अन्तिम शब्द माना जाता रहा। मध्यकालीन चिन्तन को इसीलिए आधुनिक दार्शनिक आलोचना मुख्यत अतिलौकिक चिन्तन (मेटाफिजिकल थिंकिंग) अधिक मानती है और दार्शनिक विश्लेषण कम। पुनर्जागरण का सबसे गहरा प्रभाव यही पड़ा कि इसने मानववाद और तर्कप्रधानता को दार्शनिकता में पुन प्रतिष्ठापित किया। प्रारम्भ मे यह प्राचीन यूनान के प्रति आकर्षण के कारण ही था लेकिन शनै शनै दोनो ही प्रवृत्तियो ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया। पुनर्जागरण के बाद जितने भी प्रकार की दर्शन-सरणियां विकसित हुई उन पर मानववाद और तर्कप्रधान मानसिकता का गहरा प्रभाव दिखाई देता है—चाहे उनके निष्कर्ष अलग-अलग या परस्पर-विरोधी ही क्यों न हो।

दर्शन के क्षेत्र मे इन प्रवृत्तियो की प्रतिष्ठापना का तात्पर्य यह था कि अब वास्तविकता (रिएलिटी) के ज्ञान और विश्लेषण के लिए मानवीय अनुभव और विवेक प्रमुख आधार हो गए। भौतिक जगत मानवीय अनुभव और विवेक से एक यथार्थ इयत्ता था। अत उसके विश्लेषण या ज्ञान के बिना चरम सत्ता का ज्ञान अधूरा और एकांगी और इसलिए असत्य ही माना जाता। अत स्वाभाविक था कि एक ओर अनुभव और विवेक के केन्द्र मानवीय 'मन' को जानने की जिज्ञासा प्रबल हुई तो दूसरी ओर सम्पूर्ण भौतिक जगत को जानना भी नितान्त आवश्यक हो गया। इसी जिज्ञासा ने— जिसमे तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियो का भी योगदान रहा—प्राकृतिक विज्ञानो और मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नित नयी शोध को प्रोत्साहित किया। आज तक विज्ञान और मनोविज्ञान का विकास इन्ही प्रवृत्तियो की प्रेरणा का सुफल है। स्वाभाविक था कि इन नयी खोजो की प्रक्रिया और निष्कर्षों का असर दार्शनिक ज्ञान की प्रक्रिया 'ज्ञानमीमासा' पर भी पड़ता। तर्क की यह नयी प्रणाली शुद्ध तर्क की बजाय प्रत्यक्ष अनुभवो और प्राकृतिक विज्ञानो मे हुई शोधो पर अधिक आश्रित होने लगी और इसी को वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली कहा जाने लगा। दूसरे शब्दो मे, मानवीय तर्क की बजाय प्राकृतिक विज्ञानो की प्रक्रिया पर आश्रित तर्क ज्ञान का प्रमुख माध्यम हो गया। यह तर्कप्रणाली मानवीय अनुभवों के नाम पर प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक अनुभवो को ही प्रामाणिक मानती थी, अत. वैज्ञानिकता का आग्रह अधिक बढ़ता गया और धीरे-धीरे यह स्थिति पैदा हो गई कि प्राकृतिक विज्ञान मे सम्बन्धित नयी खोजो ने दर्शन के क्षेत्र मे नयी प्रणालियों के

विकास की प्रेरणा दी और उसके लिए अनुभवात्मक और तर्कनात्मक पृष्ठभूमि के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया। आधुनिक दार्शनिकता पर इस वैज्ञानिकतामूलक तर्कणा का प्रभाव इतना अधिक गहरा और व्यापक पड़ा कि पुरातन और मध्यकालीन रहस्यवादी दर्शन-सरणियों या प्रवृत्तियों के आधुनिक समर्थक अपने अतिलौकिक या भूतातीत चिन्तन और विश्वासों को भी विज्ञानसम्मत प्रमाणित करने के प्रयत्न करने लगे। अब दर्शन विज्ञान का प्रमाण नहीं बल्कि विज्ञान दर्शन का प्रमाण बन गया।

उन्नीसवीं शताब्दी तक प्राकृतिक विज्ञानों के विकास में विधिविकासित ब्रह्माण्ड, प्रकृति के कार्य-व्यापार की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया और सृष्टि के विकासवादी सिद्धान्त के सिलसिले में हुए शोधों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन शोधों ने दार्शनिक चिन्तन में भी परिवर्तन किया। इसी का नतीजा यह रहा कि इस शताब्दी तक के चिन्तन पर द्वन्द्वात्मकता, मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी मानने के सिद्धान्त और विकास की अवधारणा का गहरा प्रभाव है। हेगेल और मार्क्स दो भिन्न दिशाओं की ओर ले जाने वाले दार्शनिक रहे लेकिन दोनों ने द्वन्द्वात्मकता, विकास की अवधारणा और विवेकी मानव की अवधारणा के आधार पर अपनी-अपनी दर्शन प्रणाली का विकास किया। तार्किक प्रत्यक्षवादी अभी भी यह मानते हैं कि वास्तविकता वही है जिसे प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक आधार पर प्रमाणित किया जा सके। बीसवीं सदी में क्वान्टम भौतिकी, आइंस्टाइन के सापेक्षतावाद और हाइज़नबर्ग की अपूर्वानुमेयता तथा माध्यम के कारण 'रिएलिटी' के ग्रहण पर पड़ने वाले प्रभाव की अवधारणाओं के कारण स्वयं वैज्ञानिक शोधों ने ही यह प्रमाणित कर दिया कि केवल विज्ञान के आधार पर वास्तविकता का सही ज्ञान नहीं हो सकता और मनुष्य अनिवार्यतः विवेकी नहीं है। इन्हीं आधारों पर अस्तित्ववाद की विभिन्न किस्मों का विकास सम्भव हुआ।

वैज्ञानिकतामूलक तर्कणा को ज्ञान प्रक्रिया का प्रमुख आधार बना लेने का एक अनिवार्य नतीजा यह भी हुआ कि अब कोई भी शास्त्र या सिद्धान्त अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसी का एक सह-परिणाम यह भी होता है कि अब कोई भी दर्शन-प्रणाली सत्य को सम्पूर्ण और अन्तिम रूप से जानने का दावा नहीं कर सकती। वह अधिक से अधिक अभी तक ज्ञात वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर अपने को प्रामाणिक समझे जाने का आग्रह कर सकती है। लेकिन दर्शन का आधुनिक इतिहास हमें बताता है कि विज्ञान के एक ही निष्कर्ष की दार्शनिक व्याप्तियां भिन्न दिशाओं में भी जा सकती हैं। द्वन्द्वात्मकता और विकासवाद भौतिकवादी दार्शनिक प्रणाली के आधार का भी काम कर सकते हैं और हेगेल तथा श्री अरविन्द की आदर्शवादी दर्शन प्रणालियों के आधार का भी।

प्राकृतिक विज्ञानो के अलावा मनोविज्ञान एव अन्य समाज विज्ञानो के क्षेत्र मे हुई खोजो ने भी ज्ञान की प्रक्रिया के ज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला है और यह तय करना मुश्किल हो गया है कि ज्ञान पूर्णतया विषयगत है या विपयीगत—ऑब्जेक्टिव है या सब्जेक्टिव ? 'रिएलिटी' केवल भौतिक है या उसका कोई मनोवैज्ञानिक स्तर भी है ? मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अभी पर्याप्त जानकारी नही मिल सकी है, लेकिन यदि मनोविज्ञान किसी भी स्तर पर भौतिकी से सम्बद्ध है तो यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मानवीय आचरण म भी अपूर्वानुमेयता और ज्ञान की मानवीय प्रक्रिया मे विपयीपरकता को पूर्णतया नही टाला जा सकता। इन परिस्थितियो मे यथार्थ या वास्तविकता के स्वरूप का कोई भी एक विश्लेषण फिलहाल अपर्याप्त लगता है और इसी कारण मानवीय अस्तित्व के किसी भी प्रश्न का कोई निश्चित दार्शनिक उत्तर देना सम्भव नही रहा। बल्कि निश्चित उत्तर का आग्रह इन परिस्थितियो मे हठ धर्मिता या मतान्धता दिखाई देने लगा। प्रत्येक उत्तर पर प्रश्नवाचक चिह्न की प्रवृत्ति विकसित होने लगी जिसने दर्शन के क्षेत्र मे सशयवादी मानसिकता को प्रश्रय दिया।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक दर्शन का तात्पर्य किसी एक निश्चित दार्शनिक प्रणाली स नही बल्कि उस दार्शनिक मानसिकता से है जो मानव-वादी और तर्कणाप्रधान है और किसी भी शास्त्र या वैज्ञानिक शोध को अन्तिम प्रमाण के रूप म स्वीकार नही करती। यह प्राकृतिक विज्ञानो के विकास पर काफी हद तक आधारित होने के बावजूद भौतिकवाद को अस्वीकार कर सकती है तो दूसरी ओर आदर्शवादी निष्कर्षों को भी भौतिकी या प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो के आधार पर समझना चाहती है। मध्यकालीन मानसिकता से यह इस बात मे अलग है कि यह किसी भी प्रकार की श्रद्धा और निश्चयात्मक धार्मिक रहस्यवाद के बजाय मानवीय बुद्धि और अनुभव को ही अपना आधार स्वीकार करती है। प्राचीन मानववाद और तर्कवाद से प्रेरित होते हुए भी यह वैज्ञानिकतामूलक तर्कणा और अनुभववाद को अपना आधार बनाने की ओर उन्मुख है और इसी कारण इसमे किसी भी प्रकार की निश्चयात्मकता का पूर्वाग्रह नही है।

यही कारण है कि आधुनिक दर्शन प्रणालियो के विकास मे जहा एक ओर मानवीय विवेक और अनुभव को केन्द्र म रखा गया, वही प्राकृतिक विज्ञानो, मनोविज्ञान तथा समाजविज्ञानो के आधुनिकतम निष्कर्षों के आधार पर इस विवेक और अनुभव क विश्लेषण के प्रयास भी किए गए। विभिन्न आधुनिक दार्शनिक प्रणालिया इसी प्रवृत्ति की परिणाम हैं। इनम से किसी को अन्तिम और सम्पूर्ण सत्य की वाहक नहीं कहा जा सकता, लेकिन आधुनिक मानवीय विकास पर इन विभिन्न दार्शनिक प्रणालियो के प्रभाव को भी अनदेखी नही की जा सकती और इसी दृष्टि स इनका अध्ययन रुचिकर और उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बिलकुल सम्भव है कि इस निरन्तर अनिश्चयात्मकता से उकताकर या घबराकर कुछ मन प्राचीन, मध्यकालीन या किसी प्रकार की नयी निश्चयात्मकता की ओर उन्मुख हो। विज्ञान के अधूरेपन की आलोचना करते हुए कुछ लोग उसी आधार पर फिर किसी न किसी प्रकार की भौतिकवादी या रहस्यवादी निश्चयात्मकता में अपना आश्रय तलाश करने लग सकते हैं तो कुछ लोग किसी न किसी दार्शनिक प्रणाली को अन्तिम मानकर उसी के आधार पर विज्ञान की नवीनतम शोध और उसके निष्कर्षों की व्याख्या करना चाह सकते हैं। लेकिन यदि मानव और प्रकृति के बारे में, ज्ञान की प्रक्रिया के बारे में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है तो यह स्वीकार कर लेना अधिक तर्कसंगत है कि इस अधूरे ज्ञान पर आधारित दर्शन भी अधूरा ही हो सकता है। हम वापस लौट जाने के लिए भी स्वतन्त्र हैं और अभी यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह लौट जाना सही होगा या गलत किन्तु इस निश्चय ही आधुनिक दार्शनिकता नहीं कहा जा सकता, कम से कम अभी तक तो नहीं। आधुनिक दार्शनिकता का रास्ता मानववाद और वैज्ञानिकता से होकर गुजरता है और इसलिए सभी आधुनिक दर्शनों में इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रभाव बराबर महसूस होता है—चाहे उनके निष्कर्षों की दिशाएं भिन्न ही क्यों न हों। इस दार्शनिक मानसिकता का सामाजिक प्रतिफलन भी बहुत स्पष्ट है। अनिश्चयात्मक मानसिकता का सामाजिक प्रतिफलन सदैव मानवीय स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक प्रवृत्ति के विकास की ओर ले जाता दीखता है जबकि निश्चयात्मक स्वरूप ग्रहण कर रही दार्शनिक प्रणालियों का सामाजिक प्रतिफलन परोक्ष या प्रत्यक्ष स्तर पर किसी न किसी प्रकार के सर्वसत्तावाद की ओर उन्मुख होता दीखता है। दूसरे शब्दों में, सर्वसत्तावाद मानसिक तौर पर एक पुरातन या मध्यकालीन विज्ञान निरपेक्ष प्रवृत्ति है जबकि लोकतन्त्र की प्रवृत्ति अधुनातन वैज्ञानिक मानसिकता द्वारा पुष्ट होती दिखाई पड़ती है।

नये दर्शन का प्रारम्भ : देकार्त

'नया दर्शन सब कुछ पर सदेह करता है,
आग बुझा दी गई है,
सूर्य खो गया है, और पृथ्वी भी,
और कोई नहीं जानता
कि इन्हें कहा तलाशा जा सकता है !'

जॉन डन की ये पक्तिया उस मानसिकता को अभिव्यक्त करती हैं जो पुनर्जागरण के बाद विकसित हुए वैज्ञानिकतावाद (साइंटिसिज्म) और सशयवाद का परिणाम थी। पुनर्जागरण के फलस्वरूप मानवीय विवेक को सत्य को जानने का आधार माना जाने लगा। लेकिन इस मानवीय विवेक की विवेचन प्रक्रिया का आधार क्या हो? क्यो इसके निष्कर्षों को प्रामाणिक स्वीकार किया जाये? इस प्रश्न का उत्तर भौतिकी और गणित के नये सिद्धान्तो ने दिया। इस दृष्टि से कोपरनिकस, गैलीलियो और ब्रूनो का—और हा, केवल व कुछ अन्य समानधर्मा विचारको का भी—महत्त्व असदिग्ध है। इन लोगो ने सृष्टि की प्रक्रिया की परम्परागत धारणाओ को चुनौती दी और धार्मिक ग्रथों, अरस्तू और मध्यकालीन विश्वासों की अपर्याप्तता और अधविश्वासो को जाहिर किया। इसका यह परिणाम स्वाभाविक था कि 'नया दर्शन' सब कुछ को सशय की दृष्टि से देखने लगा। सोलहवी शताब्दी के अन्त तक उपर्युक्त वैज्ञानिको के विचारो से दार्शनिक भली भाति परिचित हो चुके थे, अभी तक धर्मसम्मत समझी जाने वाली धारणाओ पर प्रश्नचिह्न लग चुका था। यद्यपि धार्मिकता की भावना समाप्त नही हुई थी, विज्ञान एक नयी दुनिया की सम्भावनाए खोलने की ओर प्रवृत्त था जिससे मनुष्य के मन म आशा का सचार होना स्वाभाविक था लेकिन फिर भी पुरानी दुनिया से मनुष्य का मोह कमजोर नही हुआ था। दुनिया और चिन्तन दोनो पुरातन और आधुनिक के बीच की सीमा-रेखा पर थे।

सत्रहवी शताब्दी की इस प्रारम्भिक मानसिकता और द्वन्द्व का दर्शन के क्षेत्र मे प्रतिफलन दकार्त म दिखाई देता है जिन्हे दर्शनशास्त्र के इतिहासकारो द्वारा

आधुनिक दर्शन का पिता कहा गया है। देकार्त का महत्त्व इसी बात से प्रकट है कि आने वाली शताब्दियों के चिन्तन पर आदर्शवादी और भौतिकवादी—दोनों ही प्रकारों पर उनकी अवधारणाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। यह कहा जाता है कि अस्तित्ववाद ने देकार्त की मूल सकल्पना—'मैं विचार करता हू, इसलिए मैं हू'—को बिलकुल ही उलट दिया लेकिन उसे भी—सार्त्र तक को—देकार्त के प्रभाव से पूर्ण मुक्त नही माना जा सकता।

देकार्त की बुनियादी सकल्पना है मैं विचार करता हू, इसलिए मैं हू (आई थिंक, देअरफोर आई एम)। यह सकल्पना देखने मे जितनी सरल लगती है उतनी है नही, क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि को—सत्ता मात्र को—और मनुष्य को भी, एक विचार मे बदल देती है। देकार्त की मान्यता थी कि जिस वस्तु को विचार से स्पष्ट और यथातथ्य नही समझा जा सकता उसकी वास्तविक सत्ता नही है। इस आधार पर सभी ऐन्द्रिक सवेदनाए—रग, ध्वनि और चाक्षुष दृश्य आदि—केवल भ्रम हो जाती हैं क्योंकि उन्हे विचार से नही, ऐन्द्रिक सवेदना से ही जाना जा सकता है। य सब चीजें वस्तुओ के गुण नही हैं। देकार्त इसीलिए जानने की प्रक्रिया म सर्वाधिक महत्त्व गणित को देते हैं क्योंकि वह विचार की स्पष्टता और परिशुद्धता का सर्वोत्तम नमूना है। इस तरह की स्पष्टता और परिशुद्धता के बिना जो कुछ जाना जाता है वह 'सत्' नही है बल्कि विषयीगत आभास मात्र है। देकार्त की यह अवधारणा उस वैज्ञानिकतावाद का ही प्रभाव है, जो यह मानता है कि ऐन्द्रिक अनुभवो मे जाना गया ससार एक भ्रमपूर्ण आभास मात्र है। इसीलिए देकार्त की ज्ञानमीमासा मे—जानने की प्रक्रिया मे—'सशय' का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे मानते हैं कि सशय से विचार का परिष्कार होता है और तब तक 'सशय' करते रहना चाहिए, जब तक कि विचार सुस्पष्ट और परिशुद्ध नही हो जाता। इस प्रकार 'सशय' विचार प्रक्रिया का एक अनिवार्य अग हो जाता है—इस अवधारणा का प्रभाव आगे विकसित चिन्तन-प्रणालियो पर स्पष्ट देखा जा सकता है। यह पूछा जा सकता है कि तब मनुष्य के अपने अस्तित्व की ही क्या प्रामाणिकता है? देकार्त का उत्तर है कि मैं अपने अस्तित्व पर सदेह करता हू, यह अपने आप म ही मेरे अस्तित्व का प्रमाण है क्योंकि सन्देह करना विचार करना है और स्पष्ट है कि यदि मैं विचार करता हू तो मैं हू।

देकार्त की इस अवधारणा का एक परिणाम होता है मनुष्य का अपनी चेतना के कोष्ठ म बद्ध हो जाना। उसका अस्तित्व अपनी चेतना पर, अपने विचार करने की सामर्थ्य पर निर्भर है जिसके लिए बाह्य जगत की कोई आवश्यकता नही है। यह धारणा मनुष्य को बाहरी जगत से, भौतिक तत्त्व से अलग कर देती है। इसलिए यह अस्वाभाविक नही है कि देकार्त चेतना (माइड) और भौतिक जगत (मैटर) को एक-दूसरे से बिलकुल अलग मानते हैं और उसी की स्वाभाविक निष्पत्ति

है आत्मा और देह म एक अनिवाय द्वैत। चेतना विचार है इसलिए उसकी भौतिक सत्ता नही है जबकि देह और बाह्य जगत भौतिक है जिनके नियमो को तो विचार म स्पष्ट और यथातथ्य समझा जा सकता है लकिन खुद उनको केवल आभास ही माना जा सकता है। इसलिए बाह्य जगत नियमो म बद्ध है लकिन चेतना स्वतत्र और सक्रिय है। दकात के अनुसार इन दानो म पारस्परिक क्रिया हो सकती है लेकिन दानो के गुण या सार—एसेंस—अनिवायत अलग रहत हैं और यही कारण है कि आत्मा को भौतिक व्याख्या क द्वारा नही जाना जा सकता। यही कारण है कि देह का भौतिक नियमो के अ तगत ह्रास और विनाश हो सकता है लेकिन आत्मा अनश्वर है।

स्पष्ट लगता है कि देकात वैज्ञानिकतावाद और धार्मिकता के बीच एक सामजस्य स्थापित करने की चष्टा करत हुए दोनों की सीमाआ को निश्चित करने का प्रयास कर रह हैं। व ब्रूनो की तरह इतने आधुनिक नही हो जात कि मध्यकालीन आस्थाओ का पूण अतिक्रमण कर दें। दकात की यह मानसिकता तब और स्पष्ट हो जाती है जब व ईश्वर क सम्बध म विचार करन लगत हैं। वैज्ञानिकतावाद के आग्रहो क आधार पर ईश्वर क अस्तित्व को प्रामाणिक नही माना जा सकता था। लकिन दकात ईश्वर के अस्तित्व म उसकी पूणता म पूरी आस्था रखत हैं यद्यपि उस आस्था को एक तार्किक आधार दने का प्रयत्न वे नि सदह करत हैं। व कहत हैं कि ईश्वर क बारे म सुस्पष्ट विचार किया जा सकता है जो अपन आप म उसके अस्तित्व का प्रमाण है। ईश्वर पूण है इसलिए वह शुभाकाक्षी है और मनुष्य से छल नही कर सकता। उसकी यह शुभाकाक्षा ही भौतिक जगत के अस्तित्व का और उसक सुस्पष्ट नियमो का आधार और प्रमाण है। मनुष्य इन नियमो को जान सकता है इसलिए वह भौतिक जगत के साथ एक सकारात्मक सम्बध भी विकसित कर सकता है।

इस प्रकार दकात तीन सार रूपो की कल्पना करते हैं ईश्वर चेतना और भौतिक तत्त्व। भौतिक तत्त्व की गति और विस्तार का प्रेरक ईश्वर है। लकिन ईश्वर के साथ चतना का सम्बध भिन्न प्रकार का है। चेतना अपने का अधूरा अनुभव करती है और ईश्वर को पूण समझती है। इसलिए पूणता के लिए उसका हर प्रयत्न ईश्वर की ओर बढना है। देकात का मानना है कि सारे मानवीय आचरण और नीतिशास्त्र की प्ररणा ईश्वर की ओर बढने की चेतना की यह प्रवृत्ति ही हो सकती है। इसका सीधा मतलब होता है कि हम अपनी आत्मा को भौतिक बधनो और अनिवायताओ स जितना मुक्त कर सकें ऐद्रिक सवेदनाओ के भ्रम स जितना बच सकें जितना स्वतत्र हो सक, उतना ही ईश्वर के अधिक निकट हो सकेंगे। दकात इस प्रकार अपन आध्यात्मिक उद्दश्य और प्रक्रिया म भारतीय ज्ञान माग क कुछ करीब जान पडते हैं—यद्यपि उन्हे ठीक भारतीय अर्थों मे

ज्ञानमार्गी नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि मानवीय आचरण और संस्थाओं की विकास-प्रक्रिया का देकार्तीय आधार बाह्य जगत से सम्बन्धित एषणाओं से चेतना की स्वतन्त्रता ही हो सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि देकार्त का संशयवाद और वैज्ञानिकतावादी आग्रह उन्हें मध्यकालीन और आधुनिक चिन्तन की सन्धि पर स्थित एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक बनाता है लेकिन उनकी चिन्तन-प्रक्रिया मध्यकालीन आग्रहों से पूर्ण मुक्त नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी धारणा तो टॉमस एक्विनॉस जैसे उदारवादी मध्यकालीन विचारकों से भी अधिक पुरानी लगती है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि देकार्त के प्रभावस्वरूप मानवीय चेतना में एक विश्वास विकसित हुआ—साथ ही यह धारणा भी बलवती हुई कि सृष्टि एक व्यवस्था के अन्तर्गत चल रही है। आगे चलकर न्यूटन ने वैज्ञानिक आधारों पर इस धारणा को पुष्ट किया। लेकिन देकार्त के अपने दर्शन में जो अन्तर्विरोध दिखाई देते हैं वे सत्रहवीं शताब्दी की मानसिकता के अन्तर्विरोध हैं। जॉनडन की पंक्तियों में जहां वैज्ञानिकतावाद और संशयवाद के कारण आस्था के सूत्र हो जाने की वेदना प्रतिबिम्बित होती है, वहीं देकार्त का दर्शन वैज्ञानिकतावाद की अवहेलना किये बिना उस आस्था को पुनः आविष्कृत करने का प्रयत्न लगता है बल्कि देकार्त का ईश्वर भी किसी रहस्यवादी संत का नहीं, किसी बौद्धिक का ईश्वर ही अधिक लगता है। दूसरी ओर, आत्मा और उसकी स्वतन्त्रता का सिद्धान्त वैज्ञानिकता के आग्रह से नहीं बल्कि ईसाई निष्ठाओं से उपजा हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार वैज्ञानिकता और धर्म का द्वन्द्व—जो आगामी तीन शताब्दियों में सभी विचारकों को परेशान करता रहा—देकार्त के चिन्तन में भी आश्वस्तिप्रद तरीके से नहीं सुलझ पाता। इसी तरह देकार्त के विचारों पर कांट की यह आलोचना भी संगत लगती है कि सार (एसेंस) की परिभाषा के आधार पर अस्तित्व (एग्जिस्टेंस) को नहीं समझा जा सकता है। उनका यह कहना भी सही लगता है कि अस्तित्व किसी तर्कसम्मत आवश्यकता से बाध्य नहीं है। देकार्त का द्वन्द्व, दरअसल, उस पश्चिमी मानस का द्वन्द्व है जो चेतना और भौतिक तत्त्व या आध्यात्मिक और भौतिक के बीच कोई संगति नहीं देख पाता। ईसाई धारणा के अनुसार परमसत्ता बाकी सब कुछ से अलग है, इसलिए सृष्टि से बिलकुल अलग एक ईश्वर या परमसत्ता की कल्पना देकार्त के संस्कारों में रही, जिससे वे मुक्त नहीं हो सके।

अनुभव पर आग्रह : लॉक

देकार्त का दर्शन मानवीय चेतना को तो केन्द्र में रखता है लेकिन यहां चेतना का केवल एक पहलू तर्कणा, युक्ति या बुद्धि ही प्रधान है। मनुष्य केवल बौद्धिक या तर्कणाशील ही नहीं है, वह अनुभवशील भी है। चेतना का तात्पर्य केवल तर्कणा ही नहीं, अनुभवप्रवणता भी है। इसलिए देकार्त का बुद्धिवादी या तर्कणावादी दर्शन अनुभूति पक्ष को पूरी तरह नहीं समझता। पास्कल, स्पिनोजा और लाइबनित्ज जैसे बुद्धिवादी दार्शनिक कुछ मामलों में अपने अलग विचार रखते हुए भी मूलतः देकार्त की बुद्धिवादी परम्परा में ही गिने जा सकते हैं।

आधुनिक दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनुभव को उसका प्राप्य दिलवाने का प्रारम्भिक श्रेय ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक (1632-1704) को जाता है। जॉन लॉक की दार्शनिक प्रणाली वस्तुतः देकार्त द्वारा प्रवर्तित प्रणाली का निषेध नहीं बल्कि उसकी पूरक मानी जानी चाहिए। मानवीय 'अनुभव' को ज्ञान का स्रोत मानने के कारण इसे अनुभववाद भी कहा जाता है। लॉक की मान्यता थी कि कोई भी विचार प्रत्यय सहजात (Innate) नहीं है इसलिए ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता जो सर्वस्वतन्त्र, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हो—इसका सीधा तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी सत्य सार्वभौम या सार्वकालिक सत्य नहीं हो सकता। इस अनुभववाद के कुछ बीज हमें बेकन और हॉब्स में भी मिल जाते हैं। कहा जा सकता है कि विज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञान का आग्रह ही अनुभववाद के रूप में एक दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली बनकर विकसित हुआ। विज्ञान जैसे किसी सत्य को अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार कर सकता, उसी प्रकार अनुभववाद भी किसी ज्ञान या सत्य को अन्तिम नहीं मान सकता।

जॉन लॉक का अपने समय के वैज्ञानिकों से घनिष्ठ सम्पर्क था जिसका असर उनकी चिन्तन-पद्धति पर भी पड़ा। इस प्रभाव का ही परिणाम था कि लॉक ने कोरे बुद्धिवाद या तर्कणावाद की बजाय विश्लेषणात्मक अवलोकन पर अधिक बल दिया और यह माना कि इस प्रकार के अवलोकन से प्राप्त ज्ञान अन्ततः ही कहला सकता है। इस प्रकार केवल अनुभववाद ही नहीं बल्कि संशयवाद के

प्रारम्भिक बीज भी लॉक के विचारो मे मिल जाते हैं। अपने इन विचारो के कारण ही लॉक ने किसी भी प्रकार की निश्चयात्मकता, सामान्यीकरण की प्रवृत्ति और भावुकता तथा अति उत्साह को विज्ञान और दर्शन के विकास मे बाधक माना।

अनुभववादी होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि लॉक ने ऐन्द्रिक सवेदनाओ पर अधिक जोर दिया और उन्हे ही ज्ञान का प्रारम्भिक स्रोत माना। लेकिन यह कहना गलत होगा कि चिन्तन या विचार उनके दर्शन मे कम महत्त्वपूर्ण हैं। 'अनुभव' की धारणा को व्यापक आधार देते हुए लॉक ने सवेदनशील प्रत्यय के साथ-साथ चिन्तनजन्य प्रत्यय को भी 'अनुभव' की परिधि मे ही शामिल किया और इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया को वस्तुजगत के साथ-साथ विचार-जगत या मानसिक-जगत पर भी बराबर आधारित स्वीकार किया गया। लॉक यह मानते थे कि इस ब्रह्माड मे दो प्रकार के सार द्रव्य हैं—भौतिक और आत्मिक। इसका सीधा तात्पर्य यह हुआ कि पूर्ण ज्ञान तभी सम्भव है जब इन दोनो सार द्रव्यो का सम्पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हो—किसी एक द्रव्य पर आधारित ज्ञान इसलिए अधूरा ही माना जायेगा। मनुष्य की चेतना इन दोनो प्रकार के द्रव्यो का अनुभव कर सकती है इसलिए लॉक के दर्शन मे सवेदनजन्य प्रत्यय की ही तरह चिन्तनजन्य प्रत्यय भी एक वास्तविकता है। लेकिन वस्तुजगत और विचार के बीच एक फाक सदैव बनी रहती है क्योकि जानने की प्रक्रिया मे हम वास्तविकता को विचार मे परिणत कर रहे होते हैं। इसलिए लॉक मानते थे कि हम भौतिक या आध्यात्मिक सत्ता के *वास्तविक सार को पूरी तरह कभी नही समझ सकते। इसलिए ज्ञान एक सभावना* है, वह अन्तिम सत्य नही है। यही कारण रहा कि लॉक ने अरिस्टॉटल के निगमनात्मक हेत्वनुमान (Syllogism) का विरोध किया क्योकि यह पद्धति एक आधार वाक्य अर्थात् आशिक सत्य को आधार बनाकर उसका साधारणीकरण कर व्यापक और निश्चित निष्कर्ष निकालती है। सच तो यह है कि लॉक इस प्रकार केवल अरिस्टॉटल का ही विरोध नही करते बल्कि वे सभी प्रकार की निश्चयात्मकवादी विचार-प्रवृत्तियो का विरोध करते हैं क्योंकि इन प्रवृत्तियो मे ज्ञान और सत्य को सार्वकालिक, सार्वभौमिक और अन्तिम मानने का आग्रह रहता है, जिसका तात्पर्य है मानवीय चेतना के भावी विकास की सम्भावनाओ को अस्वीकार करना।

यदि तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र मे कुछ भी *अन्तिम और निश्चित नही हो सकता* तो स्पष्ट है कि मूल्यो, नीति और व्यवहार के क्षेत्र मे भी किसी मान्यता को अंतिम या शाश्वत नही माना जा सकता। तो क्या नीति और धर्म के आचरण का कोई आधार नही है ? अनुभववाद इसका क्या उत्तर देता है ? लॉक का विचार था कि यदि मानवीय अनुभव मे नीति का आधार खोजना हो तो वह सुख और दुःख की अनुभूतियो मे ही हो सकता है। जिस कार्य से सुख का अनुभव हो, वह अच्छा है और जिससे दुःख का अनुभव हो, वह बुरा है। मनुष्य के लिए करणीय क्या है, इसका

निर्णय इसी आधार पर हो सकता है कि किसी कार्य को करते हुए वह सुख का अनुभव करता है या दुख का। लॉक सुख का अर्थ सुविधा नही करते बल्कि मानवीय अनुभव के विश्लेषण के ही आधार पर बतलाते हैं कि वास्तविक सुख स्वास्थ्य, प्रतिष्ठा ज्ञान, सद्कार्य और एक शाश्वत तथा अनिर्वचनीय सुख-शान्ति की आकाक्षा मे है। इस प्रकार लॉक की वास्तविक सुख की धारणा मे भौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रवृत्तियो का समावेश हो जाता है। लेकिन इन आधारो पर किन्ही सार्वकालिक, सार्वभौमिक नैतिक नियमो का निर्माण नही किया जा सकता। व्यक्ति अपने वातावरण के अनुभव और विश्लेषणात्मक अवलोकन के माध्यम से अपने मे उन्हे ग्रहण करता और उनके अनुकूल आचरण करने की ओर अभिमुख होता है।

मानवीय अनुभव को ज्ञान का स्रोत और ज्ञान को अर्थात् सत्य को एक सम्भावना की तरह स्वीकार करने का राजनैतिक-आर्थिक प्रतिफलन सभी मनुष्यो की समानता और लोकतन्त्र के सिद्धात मे ही हो सकता है। निश्चयात्मकता का विरोध करने के कारण लॉक किसी भी प्रकार के सर्व-सत्तावाद के घोर विरोधी थे और ऐसी राजनैतिक व्यवस्था को वरेण्य मानते थे जो मानवीय स्वातन्त्र्य का सम्मान करती हो। इसीलिए उन्होने राज्य की उत्पत्ति से सबधित सामाजिक समझौते के सिद्धात की व्याख्या इस प्रकार से की कि उसम समाज और व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रहे। उनसे पहले हॉब्स का विचार था कि यद्यपि राज्य जनता और शासक के बीच एक समझौते का परिणाम है लेकिन एक बार समझौता होने के बाद जनता शासक को हटा नही सकती, क्योकि समझौते मे उसने अपने सारे अधिकार शासक का सौप दिये है। लॉक का मत था कि यदि शासक उस प्रयोजन को पूरा नही करता जिसके लिए समझौता किया गया है या उसके खिलाफ कार्य करता है तो जनता को उसे हटा देने का अधिकार है। इस प्रकार लॉक ने सामाजिक समझौते के सिद्धात की व्याख्या लोकतन्त्र के पक्ष मे की जबकि हॉब्स उसका इस्तेमाल शासन की निरकुशता को समर्थन देने के लिए कर रहे थे। आर्थिक क्षेत्र मे भी लॉक इसी कारण जहा एक ओर श्रेष्ठ श्रम करने वाले व्यक्ति को अधिक लाभ का समर्थन कर पूजीवादी विचारो की ओर उन्मुख होते है वही यह भी स्वीकार करते हैं कि भूमि जैसी प्राकृतिक सपदा के शोषण या उसे नष्ट करने का अधिकार किसी एक व्यक्ति को नही दिया जा सकता, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति उतनी ही भूमि का स्वामी हो सकता है, जितनी पर वह स्वय खेती कर सके। स्पष्ट है कि यह विचार अपने मे एक समाजवादी प्रवृत्ति लिये हुए है और यदि इस सारी प्राकृतिक सम्पदा के उपयोग पर लागू कर दिया जाय तो पूजीवाद का आधार ही समाप्त हो जाता है।

लॉक उन दार्शनिको मे हैं जिन्होने शिक्षा पर अलग स विस्तृत विचार किया।

अपने निबन्ध 'सम थॉट्स कन्सर्निंग एजूकेशन' में उन्होंने बताया कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का सम्मान करते हुए उसके विकास में अपनी भूमिका निभाना होना चाहिए। निश्चयात्मकता के विरोधी होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि लॉक शिक्षा के औपचारिक नियमों को बालक पर थोपने का विरोध करते। उनकी धारणा थी कि उपदेश से नहीं, उदाहरण और संगति से ही बालक में सद्गुणों का विकास सम्भव है। इसलिए शाला, परिवार और समाज में उचित वातावरण का निर्माण एक शैक्षणिक आवश्यकता है। इसी प्रकार पाठ्यक्रम में तर्कशास्त्र और प्राचीन दर्शनों की बजाय लॉक ने प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन का आग्रह किया जो एक अनुभववादी के लिए स्वाभाविक भी था। बल-प्रयोग दूसरे के व्यक्तित्व की अवमानना है जबकि शिक्षा में दूसरे के व्यक्तित्व के सम्मान का भाव अन्तर्निहित है, इसलिए लॉक ने शिक्षण-प्रक्रिया में बल-प्रयोग को अनुचित ठहराया और अनुशासन के विकास के लिए भी बल प्रयोग की बजाय सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रशंसा की प्रेरणा पर जोर दिया। यह आश्चर्यजनक है कि भाषा-शिक्षण के बारे में लॉक के विचार बहुत आधुनिक थे। उनकी धारणा थी कि भाषा का सही और सहज ज्ञान उसके प्रयोग के वातावरण में ही सम्भव है। लॉक इस तर्क के द्वारा लेटिन को अनिवार्य तौर पर पढ़ाये जाने का विरोध कर रहे थे। वे किसी भी विदेशी भाषा को अनिवार्यतः थोपे जाने के विरोधी और पाठ्यक्रम में व्याकरण के नियमों की शिक्षा को कम से कम कर देने के समर्थक थे। लॉक के शिक्षा-दर्शन पर टिप्पणी करते हुए एक लेखक ने कहा है कि उसका मुख्य उद्देश्य एक उदार वैश्विकता की भावना का विकास तथा सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों, संकीर्णताओं और क्षेत्रीयताओं की अवमानना करना है।

लॉक के दर्शन में बहुत-सी कमियां बताई जा सकती हैं। अनुभववादी होते हुए और यह मानते हुए कि अनुभव का स्रोत वस्तु-जगत से प्राप्त संवेदन है, वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते रहे। यदि ईश्वर है तो कोई न कोई सत्य सार्वकालिक और सार्वभौमिक भी होना चाहिए। इसी प्रकार लॉक की इस अवधारणा को भी चुनौती दी गई कि वस्तुओं में प्राथमिक और द्वितीय दो प्रकार के गुण होते हैं। इसी प्रकार कांट जैसे दार्शनिकों ने लॉक की इस धारणा को चुनौती दी कि दिक् और काल भी अनुभव से पूर्ण नहीं हैं।

लेकिन लॉक के दार्शनिक विचारों की महत्ता और प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। बुद्धिवाद के एकांगी स्वरूप के सम्मुख अनुभववाद को रखकर लॉक ने उसकी कमियों को पूरा करने का प्रयत्न किया। आने वाले समय में जिन दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ उन पर भी लॉक के विचारों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। बर्कले और ह्यूम के सिद्धान्तों पर तो उसकी स्पष्ट छाप है ही, साथ ही आधुनिक व्यवहारवादी, यथार्थवादी और प्रत्यक्षवादी प्रणालियां भी

अपना इतिहास अनुभववाद मे ही खोजती है। दार्शनिक प्रणालियो के अतिरिक्त राजनीति मे प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र तथा राज्य की शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त, आर्थिक क्षेत्र मे फ्रांसीसी फिजियोक्रेट्स और एडम स्मिथ के विचारो तथा शिक्षा के क्षेत्र मे रूसो की धारणाओं मे लॉक के विचारो का विकास देखा जा सकता है।

निश्चयात्मकता बनाम संशय : बर्कले और ह्यूम

देकार्त और लॉक की अवधारणाओं में बहुत-सी भिन्नताओं के बावजूद एक समानता यह दिखती है कि दोनों ही पदार्थ और चेतना का अलग अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर लेने का आवश्यक परिणाम होगा चेतना को उससे बद्ध मानना। लॉक का अनुभववाद पदार्थ में कुछ गुणों का अस्तित्व स्वीकार करता है जिन्हें चेतना ग्रहण करती है। चेतना और पदार्थ का यह द्वैत देकार्त में भी है और लॉक में भी। शायद यही कारण रहा कि न तो देकार्त को विचार पर पूरा भरोसा हो सका और न लॉक को अनुभव पर, और इसलिए भिन्न दार्शनिक प्रणालियों के समर्थक होते हुए भी दोनों ने ही दार्शनिक क्षेत्र में सन्देहवादी या संशयवादी प्रवृत्ति को पुष्ट किया।

प्राकृतिक विज्ञानों और अनुभववाद के बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद प्रत्यय-वादी अवधारणाओं और ईश्वरीय अस्तित्व में विश्वास को समाप्त किया जाना सम्भव था और यही कारण है कि दोनों ही दार्शनिकों में ईश्वर और धर्म के प्रति आस्था का भाव मिलता है यद्यपि दोनों के कारण अलग हैं। लेकिन दार्शनिक स्तर पर सन्देहवाद की प्रवृत्ति का ईश्वरीय अस्तित्व में भी सन्देह करना स्वाभाविक है, अतः प्रत्ययवादी दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक था कि अनुभववाद विज्ञानसम्मत कही जाने वाली ज्ञान-मीमांसा और तर्क-प्रणाली को स्वीकार करते हुए भी परम चेतना के निःसंशय अस्तित्व को प्रमाणित करें।

यह बड़ा ही कठिन काम था जिसे पूरा करने का प्रयास किया जार्ज बर्कले (1685-1753 ई०) ने। बर्कले अपनी युवावस्था में लॉक की अवधारणाओं से काफी प्रभावित रहे लेकिन वे न तो सन्देहवाद से सन्तुष्ट थे और न पदार्थवाद या भौतिकवाद से। कुछ लोगों को यह एक विरोधाभास लग सकता है कि लॉक के अनुभववाद से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने पदार्थवाद या पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता की अवधारणा को अप्रामाणिक ठहराया। बर्कले का कहना था कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके अनुभव किये जाने या ग्रहण किये जाने में है। उनका प्रसिद्ध वाक्य है कि अनुभव किया जाना ही होना है—'टु बी इज टु बी परसीव्ड'

—क्योंकि उसके अनुभव किये जाने के अतिरिक्त उसके होने का कोई और प्रमाण नहीं है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह होता है कि वस्तु से पहले उसे अनुभव करने वाले का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी से जुड़ी हुई बात यह भी है कि पदार्थ जड़ और निष्क्रिय है अतः वह विचार या भाव पैदा नहीं कर सकता—ये तो अनुभव करने वाली चेतना की ही उपज है। क्या यह अवधारणा उस भारतीय विचार के करीब नहीं पहुंच जाती कि ज्ञाता का अपने को जानना ही ज्ञान है। बर्कले भी यह स्वीकार करते हैं कि द्रष्टा का होना ही दृश्य के होने का प्रमाण है। इसी आधार पर ईश्वर के निःसंशय अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनका तर्क है कि यदि यह विश्व है तो स्पष्ट है कि यह एक साथ किसी के द्वारा देखा और महसूस किया जा रहा है और निश्चय ही यह अनुभव करने वाली चेतना ईश्वर ही हो सकती है। इसी तर्क के आधार पर बर्कले ब्रह्माण्ड के नियमों का आधार भी ईश्वर में खोजते हैं। इसलिए व्यक्तिबद्ध चेतना और पदार्थ दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व पर आधारित हैं। वही परम सत्ता है। बर्कले के सिद्धान्तों और भारतीय वेदान्त-दर्शन में कुछ रुचिकर समानताएं खोजी जा सकती हैं।

लेकिन बर्कले का यह प्रत्ययवाद या आदर्शवाद उन लोगों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता था जो मानवीय चेतना की क्षमता की सीमाओं को समझते थे। यह तर्क अपनी जगह ठीक हो सकता है कि मानवीय चेतना की अपनी सीमाएं हैं अतः उसके द्वारा गृहीत ज्ञान भी परम नहीं हो सकता या यदि कुछ 'परम' है तो वह मानवीय चेतना की परिधि में नहीं समा सकता। लेकिन इस तर्क को स्वीकार करने का तात्पर्य है ईश्वर को या परम चेतना को अनुभव की तरह नहीं बल्कि युक्तिसत्य की तरह स्वीकार करना। लेकिन प्राकृतिक विज्ञानों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण अनुभव या प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक संवेदन पर आग्रह अधिक प्रबल था। यह मानसिकता सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति पाती है डेविड ह्यूम (1711-1776 ई०) में। ह्यूम यह तो स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का आधार अनुभव ही है और यह भी कि सब हम जो कुछ जान पाते हैं वह वास्तव में हमारे अपने विचार ही हैं लेकिन साथ ही वे यह भी मानते हैं कि इन विचारों की सत्यता या अन्तिमता की कोई और कसौटी नहीं है सिवाय हमारे अपने अनुभव के। चेतना की सीमा के कारण अनुभव की अपनी सीमा है अतः विचार या ज्ञान की भी सीमा है। इसका सीधा तात्पर्य यह हुआ कि हमारा ज्ञान, 'रिएलिटी' के बारे में हमारा अनुभव और हमारे विचार अन्तिम सत्य नहीं हो सकते। यदि ह्यूम का यह मन्तव्य सही है तो दर्शन के क्षेत्र में इसकी परिणति एक सन्देहवादी प्रवृत्ति के विकास की तरफ होती है क्योंकि हम जो कुछ भी जान पाते हैं उसके अधूरा और इसलिए असत्य होने की सम्भावना बराबर बनी रहती है और साथ ही यह भी कि तब हम परम सत्ता को निश्चयपूर्वक कभी भी नहीं जान सकते। इस प्रकार लॉक से ही अनुभववाद का

एक विकास जहाँ बर्कले के प्रत्ययवाद में होता दिखाई देता है वहीं दूसरी शाखा ह्यूम की विचार-प्रणाली में होती है जो एक साथ ही अनुभववादी तथा प्रत्यक्षवादी भी है और संशयवादी व अज्ञेयवादी भी। लेकिन लॉक, बर्कले और ह्यूम तीनों—और हाँ, देकार्त भी—मानवीय अनुभव और मानवीय विवेक को ज्ञान के आधार के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः इन सभी में एक अन्तर्निहित मानववादी प्रवृत्ति बराबर उपस्थित रहती है—बल्कि ह्यूम तो यही मानते हैं कि मानवीय मन का जगत ही ज्ञान की खोज का वास्तविक क्षेत्र कहा जा सकता है।

ह्यूम के इस विचार को—कि कोई भी सत्य अन्तिम और परम रूप नहीं जाना जा सकता, अतः उस पर हम हठ नहीं करना चाहिए—यदि सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में लागू किया जाय तो उसका सीधा परिणाम लोकतान्त्रिक प्रवृत्तियों का समर्थन होना चाहिए। लेकिन यह बहुत विस्मयजनक है कि ह्यूम लोकतन्त्र की बजाय राजतन्त्र को वरीयता देते हैं। उनका अनुभववाद उन्हें व्यवहारवाद की ओर ले जाता है और इसलिए इतिहास के अनुभवों से जनता के व्यवहार के बारे में उनका निष्कर्ष यही है कि पुरानी परम्पराओं और सत्ता के द्वारा ही लोगों पर शासन किया जा सकता है। लॉक जहाँ राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादकों में हैं वहीं उनकी दार्शनिक प्रणाली से प्रभावित होते हुए भी ह्यूम शक्ति सिद्धान्त का समर्थन करते दिखते हैं। वे सफलता को ही सार्थक मानते दिखते हैं और इसी कारण राजनीति में किसी प्रकार की नैतिकता को अनिवार्य नहीं मानते। इस प्रकार ह्यूम का अनुभववाद सैद्धान्तिक रूप से सन्देहवाद, उदारवाद और मानववाद को महत्त्व देते हुए भी व्यवहार में अनुदारवाद को समर्थन देता है और साधनों की पवित्रता के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है।

यहीं पर स्कॉटलैंड के 'कॉमन सेंस स्कूल'—सामान्य बुद्धि सम्प्रदाय की चर्चा कर लेना उपयुक्त होगा। बर्कले का प्रत्ययवाद और ह्यूम का सन्देहवाद दोनों ही सामान्य बुद्धि की अवहेलना करते हैं क्योंकि दोनों ही उस सत्य को स्वीकार नहीं करते जो सामान्य मानवीय बुद्धि को ग्राह्य है। इस विचार-प्रणाली का नेतृत्व टॉमस रीड ने किया। उनकी मान्यता थी कि हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, वह स्वयंसिद्ध है अतः उस पर सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। हम सत्य के रूप में कुछ नियमों का ज्ञान भी कर सकते हैं क्योंकि वे भी उतने ही सत्य हैं जितना हमारे होने के बारे में, हमारे परिवेश के बारे में हमारा ऐन्द्रिक संवेदन पर आधारित अनुभव। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के अनुभव में भ्रम या गलती हो सकती है लेकिन स्वाभाविक मानवीय योग्यता पर हम भरोसा करना चाहिए कि वह सही और गलत में भेद कर सकती है। इस प्रकार सामान्य बुद्धि सम्प्रदाय के दार्शनिकों का प्रयत्न यह रहा कि ज्ञान मीमांसा को अनुभव पर तो

आधारित रखा जाय लेकिन वे अनुभव हमारे सामान्य दैनन्दिन अनुभव हो— ऐसा न हो कि अनुभव हो इतना सूक्ष्म हो जाय कि वह अनुभव की बजाय एक जटिल विचार लगने लगे। लेकिन कहना न होगा कि सामान्य लोगों को आकर्षित करने की क्षमता के बावजूद सामान्य बुद्धि सम्प्रदाय दार्शनिक क्षेत्र मे अधिक प्रतिष्ठा अर्जित नही कर सका क्योकि ऐन्द्रिय सवेदनो के आधार पर जब हम मानवीय सत्य के क्षेत्र म प्रवेश करते है तो मानवीय मन की बनावट और उसकी प्रकृति तथा सीमाओ पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और उन पर विचार करते ही अनुभव की अपनी प्रामाणिकता को लेकर युक्तिया-प्रतियुक्तिया आवश्यक हो जाती हैं।

प्रबुद्धता का युग : मानवीय स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा

विचारो के इतिहास मे अठारहवी शताब्दी को प्रबुद्धता का युग अथवा ज्ञानोदय काल—एज ऑफ एनलाइटनमेंट—के नाम से जाना जाता है। जिस प्रकार सत्रहवी शताब्दी के नये दर्शन पर गैलीलियो और उसके समानधर्मा वैज्ञानिको की खोजो का प्रभाव दिखाई देता है उसी तरह—बल्कि कुछ हद तक उससे भी ज्यादा—प्रभाव अठारहवी सदी की इस प्रबुद्धता की प्रवृत्ति पर न्यूटन और उसके समकालीन वैज्ञानिको का देखा जा सकता है। न्यूटन का उल्लेख इसलिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसके विचारो का असर बीसवी सदी से पहले के कई महत्त्वपूर्ण दार्शनिको पर किसी न किसी रूप मे लक्षित किया जा सकता है। न्यूटन के प्राकृतिक दर्शन की मूल मान्यता यही थी कि यह ब्रह्माड एक विधिशासित इकाई है और यह विधि गुरुत्वाकर्षण का नियम है जिसके अनुसार पृथ्वी और अन्य सभी ग्रह एक सूर्य की परिधि म बधे है। इस प्रकार इस नियम ने कोपरनिकस की मान्यताओ को भी पुष्ट किया। दार्शनिक विचारो के क्षेत्र मे न्यूटन की इस खोज का सीधा प्रभाव इसी रूप म दिखाई देता है कि इसके बाद दर्शन की हर शाखा—चाहे वह ईश्वर जैसी किसी परम सत्ता के अस्तित्व को मानती हो या न मानती हो—का प्रमुख उद्देश्य इस ब्रह्माण्ड का एक अग होने के नाते मनुष्य के आचरण और आकाक्षाओ मे उस नियम की खोज हो गया जिससे वह निर्देशित होता है। यही कारण है कि इसके बाद विज्ञान की खोजो का दर्शन पर सीधा प्रभाव दिखाई देने लगता है क्योकि यह माना जाने लगा कि प्रकृति का एक अश होने के नाते मनुष्य—और इसलिए उसकी सामाजिक सस्थाए और व्यवहार भी—प्राकृतिक विज्ञान के नियमो के ही आधार पर सचालित होते हैं।

इसलिए 'प्रबुद्धता के युग' की वैचारिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने पर जो विशेषताए हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यही होगी कि अब अतिप्राकृतिक की जगह प्राकृतिक ने ले ली, जिसका तात्पर्य यही है कि धर्म-शास्त्र की जगह विज्ञान केन्द्र मे हो गया और यह स्वीकार करने की प्रवृत्ति बन गई कि जड और चेतन सभी प्राकृतिक विधि द्वारा सचालित हैं।

इस प्रवृत्ति का एक सीधा परिणाम था मानवीय तर्कणा पर एकाश्रय। यह माना गया कि सही आचरण वही है जो प्राकृतिक विधि के अनुकूल है और मनुष्य उसका अनुकरण करता हुआ निरन्तर चरम पूर्णता की स्थिति की ओर विकसित हो सकता है। यह मान लिया गया कि यह विश्व एक इकाई है, अत यह भी समझ म आने लगा कि पूरी मनुष्यता की नियति एक है।

अत स्वाभाविक था कि इन अवधारणाओ के आधार पर सभी सामाजिक सस्थाओ और आचरण को परखन के प्रयत्न किये जाते। यही कारण है कि अठारहवी शताब्दी के करीब-करीब हर प्रमुख विचारक ने अपने समय की सस्थाओ के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाया। ऐसे लोगो म सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम वाल्तेयर (1694-1778 ई०) का है जिन्हे विचारो मे इतिहासकारो द्वारा प्रबुद्धता क युग की आत्मा कहा गया है। प्रबुद्धता के युग म वाल्तेयर वैचारिक और साहित्यिक स्तर पर उसी तरह केन्द्र म आसीन हैं जिस तरह मानववाद के युग म इरास्मस। वाल्तेयर और उनके समानधर्मा विचारको की सबसे बडी खूबी यह थी कि उन्होने हर तरह के अधविश्वास का जबरदस्त विरोध किया। स्पष्ट है कि इस विरोध मे चर्च—चाहे वह कैथोलिक चर्च हो या प्रोटेस्टैंट—का विरोध होता क्योकि वही सब अन्धविश्वासों की जड माना गया। वाल्तेयर की धारणा यह थी कि धार्मिकता की भावना के लिए किसी भी तरह का धार्मिक सगठन अनावश्यक बल्कि बाधक है क्योकि वह ऐसी औपचारिकताओ और रस्मो पर टिका होता है जो न केवल गैरजरूरी हैं बल्कि अन्धविश्वास पैदा करती है। यही कारण था कि वाल्तेयर न ईसा क व्यक्तित्व के साथ जुडी हुई सभी चामत्कारिक घटनाओ को मानन से इनकार करते हुए कहा कि वे देहाती लोगो के मुकरात हैं। वाल्तेयर की मान्यता थी कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व अपने आप म ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण तो है लेकिन यह ब्रह्माण्ड विधिशासित है अत यह ईश्वर मानवीय जीवन म भी किसी तरह का हस्तक्षेप नही करता। दर्शन की भाषा मे इस विचार को 'तटस्थ-ईश्वरवाद'—डीइज्म—कहा गया जिसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य अपने आचरण से ही अपने जीवन को बेहतर बना सकता है इसके लिए ईश्वर की कृपा जैसी कोई वस्तु काम नही देगी और इसलिए ईश्वर के प्रति भक्ति या प्रार्थना का भी कोई अर्थ नही है। हम कह सकते हैं कि इस विचार म कुछ हद तक भारतीय कर्मवाद के लक्षण दिखाई देते हैं लेकिन इसे ठीक-ठीक वही नही कहा जा सकता। स्पष्ट है कि इस अवधारणा से चर्च और धर्म की पारम्परिक स्थिति को धक्का लगा क्योकि तब धर्म का तात्पर्य किसी ईश्वर के प्रति भक्ति या किसी धार्मिक सगठन के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति नही रहा। प्राकृतिक विधि को समझते हुए मानवीय बेहतरी के लिए प्रयत्न करना ही वाछनीय समझा गया। इतिहासकारो का कहना है कि यह 'तटस्थ ईश्वरवाद'

प्रबुद्धता के युग का प्रमुख विश्वास हो गया और तत्कालीन बौद्धिकों, कलाकारों और पढ़े लिखे वर्ग पर इस अवधारणा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है—पोप की कविता, गिबन का इतिहास ग्रन्थ और दिदरो का विश्वकोश इस निष्कर्ष के समर्थन म उद्धृत किए जा सकते हैं।

दरअसल वाल्तेयर के विचारों पर लॉक का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है और उनके समय के वैज्ञानिक निष्कर्षों ने उसे और पुष्ट किया। यही कारण है कि मानवीय अनुभव की कसौटी को स्वीकार करते हुए वाल्तेयर ने भी उसी आधार पर सामाजिक-राजनैतिक संस्थाओं का विश्लेषण किया। अत स्वाभाविक था कि उन्होंने बौद्धिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए उस हर तरीके के प्रति अपना विरोध प्रकट किया जिससे मानवीय स्वतन्त्रता किसी भी तरह बाधित या कुंठित होती हो। वाल्तेयर का यह कथन किसी भी मानववादी व्यवस्था के लिए एक आदर्श वाक्य है 'हो सकता है मैं तुम्हारे विचारों से सहमत न हो सकूं, फिर भी मैं तुम्हारे विचार प्रकट करने के अधिकार की रक्षा करूंगा।' लेकिन उनके इन विचारों की सीमा बौद्धिक वर्ग या अधिक से अधिक बुर्जुआ कहे जाने वाले वर्ग तक ही सीमित थी—निम्न वर्ग को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया। फिर भी अठारहवीं शताब्दी की परिस्थितियों को देखते हुए वाल्तेयर के विचारों ने अन्धविश्वासों को दूर करने और लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

वाल्तेयर को दार्शनिक स्तर पर तो भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता लेकिन ईश्वर का तटस्थ मान लेने और प्राकृतिक विधि को वरीयता देने के कारण व्यावहारिक स्तर पर वे कुछ मामलों में भौतिकवादियों के कुछ करीब आ जाते हैं। इन भौतिकवादियों और अनीश्वरवादियों के उल्लेख के बिना प्रबुद्धता के युग की दार्शनिक मानसिकता को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। ऐसे दार्शनिकों म होल्बाख, द ला मेत्तरी और दिदरो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। होल्बाख की मान्यता थी कि पशुओं की तरह मनुष्य भी एक-अंगी है और अन्य जीवों की तरह ही उस पर भी प्रकृति के नियम पूरे लागू होते हैं। यही कारण है कि मरने पर आत्मा जैसी कोई चीज अलग से नहीं बचती। होल्बाख मानते थे कि मृत्यु के साथ ही जीवन समाप्त हो जाता है अत हम जीवन का पूरा उपभोग करना चाहिए। उनका विचार था कि ईश्वर—यहां तक कि तटस्थ ईश्वर—का कोई अस्तित्व नहीं है और यह ब्रह्माण्ड केवल स्वचालित प्रक्रिया म रत पदार्थ है। मनुष्य के जीवन क नैतिक नियमन के लिए ईश्वर और धर्म की नहीं बल्कि सही शिक्षा की आवश्यकता है। स्वाभाविक है कि होल्बाख के विचार तत्कालीन समाज म काफी विवादास्पद बन रहे और ईश्वरवाद के पूर्ण अस्वीकार के कारण न केवल चर्च बल्कि प्रबुद्ध शासकों और वाल्तेयर तक ने उनका खंडन किया।

लेकिन होल्बाख की मान्यता थी कि विज्ञान के युग के लिए पारम्परिक पूर्वाग्रहों से पूर्ण मुक्ति आवश्यक है।

द ला मेत्तरी ने भी होल्बाख की तरह मनुष्य को उन्हीं नियमों के अधीन माना जिनसे शेष जीवन निर्देशित होता है—बल्कि उन्होंने तो मनुष्य की समानता पशुओं में ही नहीं, वनस्पति जगत के साथ तक देखी और इस प्रकार विकासवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने आत्मा की अमरता जैसे किसी भी विचार को एक भ्रम बताते हुए जीवन और जगत की केवल भौतिकवादी यथार्थता को ही सच माना। उन्होंने इस धारणा को भी भ्रान्त बताया कि भौतिकवाद मनुष्य को नैतिक बनने की प्रेरणा नहीं देता। मेत्तरी की मान्यता थी कि भौतिकवाद मनुष्य को सब प्रकार की भ्रान्तियों और पूर्वाग्रहों से मुक्त करता है और तभी वह अपने अस्तित्व और अपने विकास की सम्भावनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में पहचान सकता है। हम वनस्पति जगत या पशु जगत के एक हिस्से हैं, यह धारणा भी क्या हम इस बात का ज्ञान नहीं करा देती कि हमने किस सीमा तक विकास किया है और हमारा भविष्य कितना आशापूर्ण है ?

होल्बाख और मत्तरी की भांति दिदरो भी भौतिकवादी और अनीश्वरवादी थे जिनका उद्देश्य मनुष्य जाति को हर प्रकार के अन्धआस्थावाद से मुक्त करना था। दिदरो ने भी इस ब्रह्माण्ड को एक विधिशासित यन्त्र के रूप में देखा जो स्वतः प्रेरित है और जिसके लिए किसी संचालक की कोई जरूरत नहीं है। दिदरो की विज्ञान में बड़ी आस्था थी और वे समझते थे कि इससे मनुष्य जाति का विकास बहुत उज्ज्वल है। दिदरो केवल दार्शनिक ही नहीं थे, उन्होंने नाटक, उपन्यास और साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में भी सक्रियता प्रदर्शित की। इस क्षेत्र में उन्होंने प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की सलाह दी, कृत्रिमता का विरोध किया और इसी कारण कुछ इतिहासकार उन्हें स्वच्छन्दतावाद—रोमांटिसिज्म—के प्रारम्भिक कल्पकों में मानते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबुद्धता का दर्शन कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं बल्कि एक प्रवृत्ति था जो वे अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों—देकार्त और लॉक—के विचारों के साथ-साथ नयी वैज्ञानिक शोधों से भी प्रभावित था और जिसका केन्द्रीय मन्तव्य अन्धविश्वासों, धार्मिक सकठता और आरोपित अनुशासन की बजाय वैज्ञानिकता और मानवीय स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा था।

व्यक्तित्व की अभिव्यंजना : रूसो

पुनर्जागरण-काल से ही मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा सभी प्रमुख विचारकों के चिन्तन में अन्तर्निहित रही लेकिन इस धारणा को सर्वाधिक सशक्त और प्रभावी अभिव्यक्ति रूसो (1712-1778 ई०) में मिली। रूसो देकार्त या बाद में काट आदि की तरह शुद्ध दार्शनिक नहीं माने जाते क्योंकि उन्होंने औपचारिक दार्शनिक प्रणालियों का अनुकरण करने की बजाय मनुष्य की वास्तविक परिस्थितियों के विश्लेषण द्वारा उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को समझने और उन्हें दूर कर मनुष्य के सहज व्यक्तित्व को प्रतिष्ठा देने की कोशिश की। इसलिए उन्हें एक ऐसा सामाजिक दार्शनिक कहा जा सकता है जो ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा की बजाय मनुष्य की स्वतन्त्रता और समानता के विचारों में अधिक रुचिशील था।

रूसो के चिन्तन का सार है: 'प्रकृति की ओर'। उन्होंने अपनी पुस्तक 'मनुष्यों में असमानता की उत्पत्ति पर एक प्रबन्ध' में इस सुस्थापित विचार को चुनौती दी कि सभ्यता—कला और विज्ञान—का विकास मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास को पूर्णता की ओर ले जाता है। उनकी मान्यता थी कि सभ्यता ने मनुष्य में स्वार्थ-वृत्ति, असमानता, अन्याय, शोषण और दमन की संस्थाओं और प्रवृत्तियों को पैदा किया है। अपनी इस धारणा की पुष्टि में सभ्यता की दृष्टि से कम विकसित समाजों का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य ऐसे समाजों में अधिक सुखी है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसके सहज व्यक्तित्व पर बन्धन हावी होते जाते हैं जिससे कुंठाएं पैदा होती हैं जो अन्य कई प्रकार की विकृतियों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। रूसो के इन विचारों की छाया बाद में कुछ हद तक फ्रायड आदि मनोविश्लेषकों की मान्यताओं पर भी देखी जा सकती है। इसीलिए रूसो ने मनुष्य की प्राकृतिक स्थिति को वरेण्य मानते हुए 'प्रकृति की ओर' के विचार का प्रवर्त्तन किया।

यहां इस बात को समझ लेना जरूरी है कि 'प्रकृति की ओर' से रूसो का तात्पर्य समाज की आदिम स्थितियों की ओर लौटना नहीं था और वे यह भी जानते

थे कि ऐसा करना सम्भव भी नहीं होगा। मनुष्य की प्राकृतिक स्थिति से उनका तात्पर्य यही था कि मनुष्य की सहज भावनाओं और आवेगों का सभ्यता के नाम पर दमन न किया जाय। रूसो की मान्यताओं के आधार पर परिभाषित किया जाय तो मनुष्य एक भावनाशील प्राणी है जो अपने अन्त करण द्वारा निर्देशित होता है और वह स्वभाव से नेक और दूसरों के प्रति सहानुभूति रखने वाला है। उसकी स्वार्थवृत्ति सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में उसके सहज व्यक्तित्व की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के दमन के कारण पैदा होती है। इसीलिए रूसो मनुष्य के सहज आवेगों की अदमित अभिव्यक्ति में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है लेकिन पैदा होते ही उसे सब ओर से जजीरों से जकड दिया जाता है। इसका भी तात्पर्य यह नहीं समझा जाना चाहिए कि रूसो किसी सस्था-विहीन समाज की धारणा का प्रचार कर रहे थे। सभ्यता का विकास सस्थाओं के विकास पर निर्भर करता है जबकि उसकी परख मनुष्य के—व्यक्ति मनुष्य के—विकास से ही हो सकती है। लेकिन होता यह है कि सस्थाए अपने आप में मूल उद्देश्य बन जाती हैं और व्यक्ति-मात्र का शोषण एव दमन करने लगती हैं। सस्थापरक सभ्यता की आलोचना के माध्यम से रूसो जो कुछ प्रतिपादित करना चाहते थे वह वास्तव में यही था कि व्यक्ति मनुष्य—मनुष्य मात्र—ही सभ्यता का उद्देश्य और परख है इसलिए सामाजिक सस्थाओं का विकास इसी दृष्टिकोण के आधार पर किया जाना चाहिए।

यही कारण रहा कि रूसो ने न केवल राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की लोकतन्त्रनिष्ठ व्याख्या करते हुए प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र की बजाय प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को वरीयता दी बल्कि लॉक से दो कदम आगे बढते हुए उन्होंने इस प्रक्रिया में कुलीन वर्ग और मध्यम वर्ग के साथ-साथ सामान्य भूमिहीन किसानों और मजदूरों को भी शामिल करने और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रान्ति का आग्रह भी किया। रूसो के इन विचारों का फ्रास की राज्य-क्रान्ति पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। क्रान्ति के अवसर पर स्वीकृत एव बहुप्रचारित 'मानव एव नागरिक अधिकारों का घोषणापत्र' इस प्रभाव की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है। यह सवाल उठाया जा सकता है कि सभी मनुष्यों की अबाधित स्वतन्त्रता समाज में अराजकता और अव्यवस्था पैदा कर देगी। लेकिन रूसो की मान्यता थी कि मनुष्य स्वभावत नेक और सहयोगी स्वभाव का है अत यदि उसे किसी तरह के सामाजिक शोषण और दमन का शिकार न होना पडे तो उसके इन स्वाभाविक गुणों का विकास और भी अधिक होगा। उसकी स्वतन्त्रता और 'शुभ' सभी व्यक्तियों की, पूरे समाज की स्वतन्त्रता और 'शुभ' से अलग नहीं बल्कि वह इस 'सामान्य शुभ'— जनरल विल—में ही अपनी स्वतन्त्रता की सच्ची अनुभूति कर पाता है। जिन नियमों या कानूनों का निर्माण व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र भागीदारी

और इच्छा से करता है उनके पालन को उसकी स्वतन्त्रता का दमन नही उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति और बोध माना जाना चाहिए। इसीलिए रूसो की मान्यता थी कि वास्तविक नैतिकता अन्त करण के प्रति ईमानदारी से विकसित होती है, आरोपित सस्थाओ और नियमो से नही।

मनुष्य के व्यक्तित्व के इस सहज विकास के लिए रूसो न शिक्षा की भूमिका पर जोर देते हुए उसके स्वरूप और प्रणालियो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के सुझाव दिये। रूसो के युग मे—और जो कुछ हद तक आज भी है—शिक्षा अध्यापक केन्द्रित रही। शिक्षार्थी के आन्तरिक गुणो और व्यक्तित्व के विकास की बजाय अध्यापक द्वारा कुछ विषयो का पढाया जाना और शिक्षार्थियो द्वारा उन विषयो से सम्बन्धित सूचनाओ को रट लेना ही शिक्षा की पूरी प्रक्रिया थी। छात्र की अपनी आवश्यकता और मौलिकता का इस पूरी प्रक्रिया म कोई स्थान नही था। सामाजिक सस्थाओ म व्याप्त जडता म शिक्षा भी कोई अपवाद नही हो सकती। अपनी 'एमिली' नामक कृति म रूसो ने शिक्षा के प्रति एक बिलकुल भिन्न और मौलिक विचार प्रतिपादित करत हुए बालक के स्वाभाविक आवेगो और वृत्तियो के अदमन का आग्रह किया। रूसो का विचार था कि बारह वर्ष की अवस्था तक बालक को बिलकुल मुक्त छोड देना चाहिए—इस काल तक उसे निर्देशित करने की आवश्यकता नही है। रूसो का विचार था कि इस अवधि म उसके चरित्र का स्वाभाविक विकास हो सकेगा और उसकी स्पष्ट दिशा निर्धारित हो सकेगी। इसके बाद उसकी रुचियो और क्षमता के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। रूसो की मान्यता थी कि शिक्षा प्रक्रिया के माध्यम से हम अपने पूर्वाग्रह बालक पर आरोपित कर देते हैं, अत उस पर अपने विचारो को उपदेशात्मक शैली मे लादने की बजाय उसे स्वय अपने अनुभव से सीखने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। रूसो मनुष्य को मूलत एक भावनाप्रधान और सवेदनशील प्राणी मानते थे, अत उसके बौद्धिक विकास की बजाय भावात्मक विकास पर उनका आग्रह अधिक रहा। बालक की स्वतन्त्रता और सीखने की प्रक्रिया की सहजता पर आग्रह के कारण ही रूसो बालक पर किसी भी तरह का निषेधात्मक अनुशासन आरोपित करने, खास तौर स शारीरिक दण्ड के खिलाफ थे।

रूसो के इन विचारो ने तत्कालीन शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किया जिसकी तुलना कुछ इतिहासकार खगोल विद्या मे कोपरनिकस द्वारा की गई क्रान्ति से करते हैं। इस समय तक शिक्षा विषय प्रधान और अध्यापक केन्द्रित थी लकिन अब बालक की अपनी आवश्यकताओ, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व और मौलिकता के विकास की ओर ध्यान दिया जाने लगा। लकिन फिर भी यह स्वीकार नही किया जा सका कि बालक को पूर्णत अनिर्देशित छोड दिया जाय। रूसो का तर्क यह था कि बालक पर माता पिता और अध्यापक का कुप्रभाव

पड सकता है लेकिन यह बात भी इतनी ही विचारणीय है कि सामाजिक वातावरण भी बिलकुल निर्दोष नहीं है और अध्यापक या माता-पिता की देख-रेख के बिना उसके दोषो और विकृतियो से बालक को बचाया नही जा सकेगा । लेकिन इसमें कोई सन्देह नही कि रूसो के बाद बालक को शिक्षा के केन्द्र में रखकर देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई और उसकी समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्ण तरीके से विचार किया जाने लगा। अध्यापक सत्ता का—ज्ञान-सत्ता और दण्ड-सत्ता का—प्रतीक न रहकर बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास मे एक सहायक समझा जाने लगा जबकि पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था में वह एक ऐसा कुम्हार था जिससे बालक रूपी मिट्टी को अपनी कल्पना और साचे के अनुसार गढने की अपेक्षा की जाती थी । वास्तव मे रूसो को बाल-शिक्षा मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले विचारको मे अग्रणी कहा जा सकता है ।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व का अबाधित भावात्मक विकास उनके विचारो के मूल उत्स थे, अत उन्हे 'रोमांटिसिज्म' का मुख्य प्रवर्तक माना जा सकता है। यह 'रोमांटिसिज्म' सामाजिक-राजनैतिक विचारो म ही नही, धार्मिक-नैतिक मान्यताओ मे भी दिखाई देता है। रूसो के अनुसार ईश्वर को भी तार्किकता और बुद्धिवादिता से नही, भावना से ही पाया जा सकता है, इसलिए भावात्मक विश्वास ही धार्मिक बोध का साधन है। रूसो का धर्म इसीलिए प्राकृतिक धर्म था और राज्य से भी इसी धर्म के विकास में सहायता करने की अपेक्षा की गई जिसमे ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी तरह की सस्था, पुजारी या धार्मिक पुस्तक की आवश्यकता नही थी। लेकिन यह विडम्बनापूर्ण अन्तर्विरोध था कि रूसो ने राज्य से उन सभी लोगो को निष्कासित करने या मृत्युदण्ड देने का आग्रह किया जो धर्म की इस धारणा से असहमत होते। धर्म और नैतिक बोध यदि मनुष्य के अन्त करण पर आधारित है तो किसी भी मनुष्य को उसके विश्वासो के लिए दडित नही किया जाना चाहिए ।

रूसो के विचारो का प्रभाव बहुत व्यापक पडा। राजनीति के क्षेत्र मे जनाधिकारों और अत्याचारी व्यवस्था के खिलाफ क्रान्ति की विचारधारा को बल मिला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति और मानव अधिकारो के घोषणापत्र पर उनके विचारो की छाप स्पष्ट है। साहित्य और कला मे 'रोमांटिसिज्म' एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप मे उभरा और समूचे यूरोपीय साहित्य और कला के माध्यम से उसका प्रभाव विश्व-संस्कृति पर महसूस किया गया। साहित्य-कला मात्र को व्यक्तित्व की अभिव्यजना मानने की धारणा सौन्दर्यशास्त्र की एक प्रमुख धारणा बन गई जिसके प्रभाव आधुनिक काल के रचनाकारो पर भी देखे जा सकते हैं। लेमर्तीन, ह्यूगो, गयोटे, शैल, बायरन आदि न जाने कितने रचनाकारो के नाम गिनाये जा सकते हैं जिन पर रूसो के रोमांटिसिज्म का प्रभाव स्पष्ट है। कांट, हर्डर, शिलर आदि

दार्शनिकों पर भी उसका ऋण स्वीकार किया जा सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानवीय भावनाओं, स्वतन्त्रता और समानता को उनका उचित स्थान मिलना सम्भव हो सका।

पड सकता है लेकिन यह बात भी इतनी ही विचारणीय है कि सामाजिक वातावरण भी बिलकुल निर्दोष नही है और अध्यापक या माता-पिता की देख रेख के बिना उसके दोषो और विकृतियो से बालक को बचाया नही जा सकेगा। लेकिन इसम कोई सन्देह नही कि रूसो के बाद बालक को शिक्षा के केन्द्र मे रखकर देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई और उसकी समस्याओ पर सहानुभूतिपूर्ण तरीके से विचार किया जाने लगा। अध्यापक सत्ता का—ज्ञान-सत्ता और दण्ड-सत्ता का—प्रतीक न रहकर बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास मे एक सहायक समझा जाने लगा जबकि पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था मे वह एक ऐसा कुम्हार था जिससे बालक रूपी मिट्टी का अपनी कल्पना और साचे के अनुसार गढने की अपेक्षा की जाती थी। वास्तव मे रूसो को बाल शिक्षा मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले विचारको मे अग्रणी कहा जा सकता है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व का अबाधित भावात्मक विकास उनके विचारो के मूल उत्स थ, अत उन्हें 'रोमांटिसिज्म' का मुख्य प्रवर्तक माना जा सकता है। यह 'रोमांटिसिज्म' सामाजिक-राजनैतिक विचारो म ही नही, धार्मिक-नैतिक मान्यताओ मे भी दिखाई देता है। रूसो के अनुसार ईश्वर को भी तार्किकता और बुद्धिवादिता स नही, भावना से ही पाया जा सकता है इसलिए भावात्मक विश्वास ही धार्मिक बोध का साधन है। रूसो का धर्म इसीलिए प्राकृतिक धर्म था और राज्य से भी इसी धर्म के विकास मे सहायता करने की अपेक्षा की गई जिसम ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी तरह की सस्था, पुजारी या धार्मिक पुस्तक की आवश्यकता नही थी। लेकिन यह विडम्बनापूर्ण अन्तर्विरोध था कि रूसो ने राज्य से उन सभी लोगों को निष्कासित करने या मृत्युदण्ड देने का आग्रह किया जो धर्म की इस धारणा स असहमत होते। धर्म और नैतिक बोध यदि मनुष्य के अन्त करण पर आधारित है तो किसी भी मनुष्य को उसके विश्वासो के लिए दण्डित नही किया जाना चाहिए।

रूसो के विचारो का प्रभाव बहुत व्यापक पडा। राजनीति के क्षेत्र म जनाधिकारो और अत्याचारी व्यवस्था के खिलाफ क्रान्ति की विचारधारा को बल मिला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति और मानव अधिकारो के घोषणापत्र पर उनके विचारो की छाप स्पष्ट है। साहित्य और कला मे 'रोमांटिसिज्म' एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप म उभरा और समूचे यूरोपीय साहित्य और कला के माध्यम स उसका प्रभाव विश्व सस्कृति पर महसूस किया गया। साहित्य कला मात्र को व्यक्तित्व की अभिव्यजना मानने की धारणा सौन्दर्यशास्त्र की एक प्रमुख धारणा बन गई जिसके प्रभाव आधुनिक काल के रचनाकारो पर भी देखे जा सकते हैं। लेमर्तीन, ह्यूगो, ग्योथे, शैल, बायरन आदि न जाने कितने रचनाकारो के नाम गिनाये जा सकत हैं जिन पर रूसो के रोमांटिसिज्म का प्रभाव स्पष्ट है। काट, हर्डर, शिलर आदि

दार्शनिको पर भी उसका ऋण स्वीकार किया जा सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानवीय भावनाओ, स्वतन्त्रता और समानता को उनका उचित स्थान मिलना सम्भव हो सका।

आलोचनात्मक दर्शन का विकास : कांट

विज्ञान का दर्शन पर एक प्रभाव यह रहा—और पुनर्जागरण काल के बाद हुए दार्शनिक चिन्तन के विकास मे इसे और भी साफ तौर पर देखा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानो के निष्कर्षों और कभी-कभी उसकी प्रक्रिया को आधार बनाकर मानवीय चिन्तन-प्रक्रिया को समझने और दार्शनिक निष्कर्षों को हासिल करने की कोशिश की गई। इसी कारण विज्ञान के साथ-साथ दर्शन मे भी यन्त्रवादियो और अनुभववादियो का प्रभाव बढता गया। अपने समकालीन दार्शनिको मे इमेनुअल काट (1724-1804 ई०) इसीलिए बिलकुल अलग दिखाई देते हैं क्योंकि उनकी ज्ञान-मीमासा ऐन्द्रिक जगत के अर्थात् प्राकृतिक विज्ञानो के निष्कर्षों को स्वीकार करते हुए भी उनसे ऊपर उठकर बुद्धि की स्वायत्तता को स्थापित करने का प्रयत्न करती है। सामान्यतया दार्शनिको द्वारा दर्शन की अपनी पद्धति या ज्ञान-मीमासा का विकास करने की बजाय वैज्ञानिक पद्धति को ही स्वीकार कर लिया जाता रहा लेकिन ऐसा करने की बजाय काट ने ज्ञान-मीमासा या ज्ञान तक पहुचने की अपनी स्वायत्त पद्धति का निर्माण किया और उसके बाद ही दार्शनिको के लिए यह लगभग आवश्यक-सा हो गया कि वे अपनी ज्ञान-मीमासा का विकास भी करें।

अनुभववादियो की मान्यता थी कि सारा ज्ञान अनुभव-प्रसूत है। काट ने इसे अस्वीकार किया। उनकी मान्यता थी कि यह तो ठीक है कि अनुभव के साथ ही बोध का प्रारम्भ होता है लेकिन इससे स्वत ही यह निष्कर्ष नही निकलता कि ज्ञान की उत्पत्ति भी अनुभव से ही है। काट यह मानते थे कि भौतिक जगत के नियमो का स्रोत हमारी बुद्धि ही है, यद्यपि उनका अनुभव हमें भौतिक जगत के माध्यम से ही होता है। दूसरे शब्दो मे, इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान का अस्तित्व भौतिक जगत से परे हमारी चेतना मे है। भौतिक जगत वास्तव मे विशृखल है, इसमे व्यवस्था और समग्रता का अनुभव मानवीय चेतना के कारण ही सम्भव होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवस्था और समग्रता का अस्तित्व मानवीय चेतना मे है जिन्हें वह भौतिक जगत की वस्तुओ मे देखती है। यदि मानवीय चेतना मे यह गुण नही होते तो भौतिक जगत मे इन्हे तलाश करना सम्भव नही हो पाता। एक

दर्शनशास्त्री के शब्दो म, "काट का सबसे बडा अन्वेषण यही था कि मानव-बुद्धि के लिए भौतिक-जगत सम्बन्धी सार्वभौम और आवश्यक तथ्यो का अनुसन्धान करना तभी सम्भव है जब प्राकृतिक नियमो का स्रोत हमारी बुद्धि हो और प्रकृति के निर्माण मे उसका हाथ हो।" इस प्रकार काट की दृष्टि म ज्ञान अनुभवपूर्ण है, जिसका स्रोत मानव-बुद्धि है जबकि अनुभववाद और विज्ञान ज्ञान को अनुभवाश्रित मानते है। इसम कोई सन्देह नही कि ज्ञान के लिए ऐन्द्रिक सवेदन और दिक् काल की भी आवश्यकता होती है क्योकि दिक् काल म ही हम किसी वस्तु का अनुभव कर सकते हैं लेकिन ऐसी स्थिति म ज्ञान सदा विषयीपरक ही होगा—वह सार्वभौम और विषयपरक तभी हो सकता है जब मानवीय चेतना मे विषयपरकता का गुण पहले से विद्यमान ो।

काट की ज्ञान मीमासा का विश्लेषण अपने आप मे एक स्वतन्त्र और विस्तृत विषय है लेकिन हमारे लिए फिलहाल इतना ही स्मरण रखना काफी है कि वह प्राकृतिक नियमो का ही नही सारे ज्ञान का स्रोत मनुष्य की बुद्धि मे मानते हैं। इसी कारण काट का ज्ञान अनुभवाश्रित नही बल्कि विचाराश्रित है और ये विचार भी पूर्णत तार्किक पद्धति के आधार पर विकसित नही कहला सकत क्योकि तर्क को भी सवेदनसिद्ध प्रमाणो की आवश्यकता होती है जबकि सवेदन की अपनी सीमाए है। इसी कारण काट मानत थे कि ईश्वर के अस्तित्व को तर्कसम्मत ढग से नही सिद्ध किया जा सकता। हमारे ज्ञान की सीमाए एन्द्रिक जगत तक ही है और यदि हम इस जगत के सिद्धान्तो को इसक क्षेत्र के बाहर व्यवहार म लान की चेष्टा करेंगे—तो उसस भ्रम ही पैदा होग।

प्राकृतिक जगत और मानव-बुद्धि क बीच इस द्वैत को दखने का एक स्वाभाविक परिणाम यह हो गया कि काट ने मनुष्य के सामाजिक जीवन और नैतिक आदर्शों को ऐन्द्रिक नियमो स बद्ध नही माना। इसी कारण उन्होने 'सुख की धारणा' (principle of pleasure) को अधिक महत्त्व नही दिया और इस बात का विरोध किया कि नैतिकता का आधार सुख की अनुभूति है। उनके अनुसार नैतिकता स्वयसिद्ध है, क्योकि उसका विरोधी आचरण यदि सार्वभौम स्तर पर स्वीकार कर लिया जाय तो पूरी मानव जाति और दुनिया नष्ट हो जाएगी। इसलिए नैतिकता का पालन करने के लिए यदि कष्ट भी उठाना पडे तो वह श्रेयस्कर है। काट के अनुसार नैतिकता का अर्थ ऐस व्यक्तिगत आचरण ■ है जिसको सार्वभौमिक मान लिये जाने पर समाज का विकास होता रहे। इसलिए नैतिक आचरण प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व है और इससे बचने के लिए वह किसी भी बहाने का इस्तेमाल नही कर सकता। काट ने इसीलिए धर्म को भी नैतिकता की आधार-भूमि पर स्थापित किया। सभी धर्मशास्त्रो और धार्मिक आचरण की सहिताओ का मूल्याकन इसी आधार पर किया जा सकता है कि वे किस सीमा

तक मनुष्य का नैतिक उत्थान करती हैं। कांट मानते थे कि मनुष्य में बुराई और अच्छाई दोनों का वास है और इसलिए मनुष्य को निरन्तर अच्छे के लिए प्रयत्नशील रहना होगा। धार्मिक प्रार्थना आदि से भौतिक जगत को समझने या बदलने में हमें कोई मदद नहीं मिलती लेकिन इनके माध्यम से हम अपने नैतिक स्वरूप का विकास कर सकते हैं।

यह बहुत विचित्र लगता है कि ज्ञान को अनुभवाश्रित न मानते हुए भी कांट ने जिन सामाजिक-राजनैतिक आदर्शों की सराहना की, उन सभी का स्रोत मानवीय अनुभव ही रहा है। मानवीय अनुभव के नजरिए से नैतिक-सामाजिक मान्यताओं और संस्थाओं के मूल्यांकन का आधार मानवीय विकास में उनकी भूमिका है—और यही आधार कांट ने भी स्वीकार किया। इसीलिए कांट के सामाजिक-राजनैतिक निष्कर्ष आश्चर्यजनक रूप से मानवपरक और आधुनिक हैं। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण के लिए कांट ने 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन', 'क्रिटीक ऑफ जजमंट' और 'क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' जैसे ग्रन्थ लिखे। अन्तिम ग्रन्थ में ही नैतिकता के सवाल पर भी विचार किया है। लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में धर्म और सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था पर विचार करते हुए उन्होंने 'रिलीजन विदइन दी लिमिट्स ऑफ प्योर रीजन' और 'एटर्नल पीस' की रचना की। इससे यह भी जाहिर होता है कि धीरे-धीरे उनका झुकाव शुद्ध दार्शनिक प्रश्न और पद्धति की बजाय सामाजिक दर्शन की ओर अधिक होता जा रहा था।

अपने 'एटर्नल पीस' नामक निबन्ध में कांट का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ओर स्पष्टतः दिखाई देता है। कांट न केवल युद्ध से घृणा करते थे बल्कि उनका स्पष्ट मत था, युद्ध राजनैतिक या सैद्धान्तिक उद्देश्यों के लिए नहीं बल्कि मुख्यतः आर्थिक स्वार्थों के लिए लड़े जाते हैं। साम्राज्यवाद को वह किसी भी रूप में सहन नहीं करना चाहते थे क्योंकि यह दमन का आश्रय लेता है और साम्राज्यवादी देशों को भी लोभ और घृणा के जाल में फंसाकर अनैतिक आचरण करने को प्रेरित करता है। यह आश्चर्यजनक है कि जिस समय सारे यूरोप के देश औद्योगिक क्रान्ति के कारण नये-नये प्रदेशों को हड़प रहे थे और अधिकांश बुद्धिजीवी और लेखकों के मन में इस वृत्ति को लेकर विरोध तो दूर, कोई ग्लानि तक नहीं थी—बल्कि बाद में कार्ल मार्क्स जैसे विचारकों ने भी एशिया के पिछड़े मुल्कों पर यूरोपीय आधिपत्य के औचित्य को स्वीकार किया था—तब कांट ने यह स्पष्ट अनुभव किया था कि यूरोपीय देश अपने को ईसाई मानते हैं लेकिन आर्थिक विकास के नाम पर वे न केवल अपने नागरिकों का शोषण करते हैं बल्कि पूर्वी देशों में असभ्य बर्बर आचरण का नमूना पेश कर रहे हैं। कांट की मान्यता थी कि राज्य को नागरिक के साथ धर्म, वर्ग या अन्य किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। इसके लिए वे गणतन्त्र की अवह गणतान्त्रिक व्यवस्था को उत्तम मानते

थे और यहा तक प्रस्ताव करते थे कि युद्ध का निर्णय भी चद राजनीतिज्ञो द्वारा नही, बल्कि जनमत-सग्रह द्वारा किया जाना चाहिए।

काट का विचार था कि विज्ञान के विकास के साथ साथ शिक्षा और नैतिक प्रशिक्षण के द्वारा मनुष्य म अच्छी भावनाओ को जागृत किया जा सकता है एव उसे ऐसे आचरण के लिए प्रेरित किया जा सकता है जो केवल उसके ही नही, सभी के शुभ के लिए हो। स्वय कष्ट सहन कर नैतिक आचरण का पालन ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाता है। मनुष्य म इन श्रेष्ठता की सभावना भी है और वह इससे विपरीत आचरण भी कर सकता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य म अच्छाई की इस सम्भावना को उजागर करना है और काट का विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ऐसा किया जाना सम्भव है।

काट के दार्शनिक सिद्धान्तो के अन्तर्विरोधो और अधूरेपन की ओर बाद के बहुत से दार्शनिको द्वारा ध्यान आकृष्ट किया गया। यह कहा गया कि काट मानव-बुद्धि और प्राकृतिक जगत म द्वैत देखते हैं। वे न अनुभववाद को पूर्ण मान्यता देते हैं और न आदर्शवाद को ही पूरा स्वीकार कर पाते हैं। ईश्वर की उनकी धारणा न तो तर्कसम्मत है और न विज्ञानसम्मत। लेकिन इसमे सन्देह नही कि काट ने एक दार्शनिक पद्धति का विकास किया और उनके बाद प्रत्येक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक के लिए आवश्यक हो गया कि वह अपनी स्वतन्त्र पद्धति का निर्माण करे। उन्होंने तर्क और सहज ज्ञान दोनो को उनका प्राप्य दिया। यद्यपि उनके बाद बहुत से दार्शनिको ने यह नही माना कि वस्तुओ के स्वरूप और प्रकृति का विषयपरक पूर्व-ज्ञान सम्भव नही है। लेकिन आधुनिकतम चिन्तन की दिशा फिर इसी ओर उन्मुख दिखाई देती है। इस सन्देहवाद और अनिश्चयात्मकता के कारण ही काट ने भी विचारो और निर्णय की स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जो आधुनिक नैतिक आचरण का मानवीय आधार है। उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति की बजाय मानवीय बुद्धि पर अधिक बल दिया, इसी कारण उन्हे वैज्ञानिक दार्शनिक की बजाय आलोचक दार्शनिक कहना अधिक सगत लगता है।

तक मनुष्य का नैतिक उत्थान करती हैं। कांट मानते थे कि मनुष्य में बुराई और अच्छाई दोनों का वास है और इसलिए मनुष्य को निरन्तर अच्छे के लिए प्रयत्नशील रहना होगा। धार्मिक प्रार्थना आदि से भौतिक जगत को समझने या बदलने में हमें कोई मदद नहीं मिलती लेकिन इनके माध्यम से हम अपने नैतिक स्वरूप का विकास कर सकते हैं।

यह बहुत विचित्र लगता है कि ज्ञान को अनुभवाश्रित न मानते हुए भी कांट ने जिन सामाजिक-राजनैतिक आदर्शों की सराहना की, उन सभी का स्रोत मानवीय अनुभव ही रहा है। मानवीय अनुभव के नजरिये से नैतिक सामाजिक मान्यताओं और संस्थाओं के मूल्यांकन का आधार मानवीय विकास में उनकी भूमिका है—और यही आधार कांट ने भी स्वीकार किया। इसीलिए कांट के सामाजिक-राजनैतिक निष्कर्ष आश्चर्यजनक रूप से मानवपरक और आधुनिक हैं। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण के लिए कांट ने 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन', 'क्रिटीक ऑफ जजमेंट' और 'क्रिटीक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' जैसे ग्रन्थ लिखे। अन्तिम ग्रन्थ में ही नैतिकता के सवाल पर भी विचार किया है। लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में धर्म और सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था पर विचार करते हुए उन्होंने 'रिलीजन विदइन दी लिमिट्स ऑफ प्योर रीजन' और 'एटर्नल पीस' की रचना की। इससे यह भी जाहिर होता है कि धीरे-धीरे उनका झुकाव शुद्ध दार्शनिक प्रश्न और पद्धति की बजाय सामाजिक दर्शन की ओर अधिक होता जा रहा था।

अपने 'एटर्नल पीस' नामक निबन्ध में कांट का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ओर स्पष्ट दिखाई देता है। कांट न केवल युद्ध से घृणा करते थे बल्कि उनका स्पष्ट मत था, युद्ध राजनैतिक या सैद्धान्तिक उद्देश्यों के लिए नहीं बल्कि मुख्यतः आर्थिक स्वार्थों के लिए लड़े जाते हैं। साम्राज्यवाद को वह किसी भी रूप में सहन नहीं करना चाहते थे क्योंकि वह दमन का आश्रय लेता है और साम्राज्यवादी देशों को भी लोभ और घृणा के जाल में फंसाकर अनैतिक आचरण करने को प्रेरित करता है। यह आश्चर्यजनक है कि जिस समय सारे यूरोप के देश औद्योगिक क्रान्ति के कारण नये-नये प्रदेशों को हड़प रहे थे और अधिकांश बुद्धिजीवी और लेखकों के मन में इस वृत्ति को लेकर विरोध तो दूर, कोई ग्लानि तक नहीं थी—बल्कि बाद में कार्ल मार्क्स जैसे विचारकों ने भी एशिया के पिछड़े मुल्कों पर यूरोपीय आधिपत्य के औचित्य को स्वीकार किया था—तब कांट ने यह स्पष्ट अनुभव किया था कि यूरोपीय देश अपने को ईसाई मानते हैं लेकिन आर्थिक विकास के नाम पर वे न केवल अपने नागरिकों का शोषण करते हैं बल्कि पूर्वी देशों में असभ्य बर्बर आचरण का नमूना पेश कर रहे हैं। कांट की मान्यता थी कि राज्य को नागरिक के साथ धर्म, वर्ग या अन्य किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। इसके लिए वे राजतन्त्र की जगह गणतांत्रिक व्यवस्था को उत्तम मानते

थे और यहा तक प्रस्ताव करते थे कि युद्ध का निर्णय भी चद राजनीतिज्ञो द्वारा नही, बल्कि जनमत-सग्रह द्वारा किया जाना चाहिए।

काट का विचार था कि विज्ञान के विकास के साथ साथ शिक्षा और नैतिक प्रशिक्षण के द्वारा मनुष्य म अच्छी भावनाओ को जागृत किया जा सकता है एव उसे ऐसे आचरण क लिए प्रेरित किया जा सकता है जो केवल उसके ही नही, सभी के शुभ के लिए हो। स्वय कष्ट सहन कर नैतिक आचरण का पालन ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाता है। मनुष्य म इस श्रेष्ठता की सभावना भी है और वह इससे विपरीत आचरण भी कर सकता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य म अच्छाई की इस सम्भावना को उजागर करना है और काट का विश्वास था कि शिक्षा द्वारा ऐसा किया जाना सम्भव है।

काट के दार्शनिक सिद्धान्तो के अन्तर्विरोधो और अधूरेपन की ओर बाद मे बहुत से दार्शनिको द्वारा ध्यान आकृष्ट किया गया। यह कहा गया कि काट मानव-बुद्धि और प्राकृतिक जगत म द्वैत देखते हैं। वे न अनुभववाद को पूर्ण मान्यता देते हैं और न आदर्शवाद को ही पूरा स्वीकार कर पाते हैं। ईश्वर की उनकी धारणा न तो तर्कसम्मत है और न विज्ञानसम्मत। लेकिन इसमे सन्देह नही कि काट ने एक दार्शनिक पद्धति का विकास किया और उनके बाद प्रत्येक महत्वपूर्ण दार्शनिक के लिए आवश्यक हो गया कि वह अपनी स्वतन्त्र पद्धति का निर्माण करे। उन्होंने तर्क और सहज ज्ञान दोनो को उनका प्राप्य दिया। यद्यपि उनके बाद बहुत से दार्शनिको ने यह नही माना कि वस्तुओ के स्वरूप और प्रकृति का विषयगत पूर्ण ज्ञान सम्भव नही है। लेकिन आधुनिकतम चिन्तन की दिशा फिर इसी ओर [illegible] दिखाई देती है। इस सन्देहवाद और अनिश्चयात्मकता के कारण ही काट ने [illegible] विचारो और निर्णय की स्वतन्त्रता को महत्व दिया जो आधुनिक [illegible] का मानवीय आधार है। उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानो की पद्धति की [illegible] बुद्धि पर अधिक बल दिया, इसी कारण उन्हे वैज्ञानिक [illegible] आलोचक दार्शनिक कहना अधिक सगत लगता है।

आदर्शवाद की द्वन्द्वात्मक व्याख्या : हेगेल

आधुनिक दर्शन के इतिहास में हेगेल (1770-1831 ई०) का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने आदर्शवाद या प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) का समर्थन करते हुए भी 'परम प्रत्यय' (एब्सोल्यूट आइडिया) को रहस्यमय या अज्ञेय नहीं माना। सामान्यतया यह देखा गया है कि आदर्शवादी विचारक अन्तिम सत्य को अज्ञेय या बुद्धि और अनुभव की पकड़ से परे मानते हैं। लेकिन हेगेल ने न केवल उस परम तत्त्व को बुद्धि द्वारा ज्ञेय माना बल्कि उसके स्वभाव की व्याख्या के माध्यम से ही समूची विश्व-प्रक्रिया की सांगोपांग व्याख्या का विस्तृत प्रयत्न किया।

यह विचित्र लगता है कि विज्ञान और अनुभववाद से असहमति रखने—बल्कि प्राकृतिक विज्ञान की खोजों के प्रति तिरस्कारपूर्ण रुख अपनाने के बावजूद हेगेल की वैचारिक प्रक्रिया और तत्कालीन वैज्ञानिक विचारों में काफी समानताएं देखी जा सकती हैं। हेगेल की पद्धति में द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और ये विचार अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक निष्कर्षों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनका असर बीसवीं शताब्दी के दर्शन तक पर भी दिखाई देता है। लेकिन फर्क इतना ही है कि विज्ञान का सारा आग्रह जहां पदार्थ पर रहा और उसके विश्लेषण द्वारा प्राप्त इन निष्कर्षों को मानवीय चेतना में भी प्रतिफलित होते हुए देखा—और इसीलिए बाद के पदार्थवादियों ने पदार्थ के इन्हीं गुणों के आधार पर समूची ब्रह्मांड प्रक्रिया और मानवीय इतिहास की व्याख्या की कोशिश की—वहीं हेगेल ने द्वन्द्वात्मकता और विकासवाद को परम प्रत्यय या विश्वव्यापी बुद्धितत्त्व के स्वभाव के रूप में देखते हुए सारी विश्व-प्रक्रिया और मानवीय इतिहास में इन्हीं का प्रतिफलन देखा क्योंकि ये भी उसी 'परम प्रत्यय' की विकास-प्रक्रिया का माध्यम ही हैं।

लेकिन ऐसा लगता है कि द्वन्द्वात्मकता और विकासवाद की ओर हेगेल का आकर्षण उनके विज्ञानसम्मत होने की वजह से नहीं, बल्कि ग्रीक दर्शन और ईसाइयत के प्रति उनके प्रारम्भिक आकर्षण की वजह से हुआ। वैसे तो सुकरात की संवाद-प्रक्रिया में भी द्वन्द्वात्मकता के बीज मिल जाते हैं पर ग्रीक दर्शन में प्लेटो

को तो निश्चय ही द्वन्द्वात्मक तर्क-प्रणाली का अन्वेषक कहा जा सकता है। दूसरी ओर, विकासवाद का वैज्ञानिक आधार चाहे अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट होने लगा हो जिसे पूर्ण स्वीकृति चार्ल्स डार्विन के प्रयत्नों से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही मिली पर ईसाइयत में ऐतिहासिक विकास की अवधारणा स्पष्टतया समाहित है। समूची मानवजाति एक निश्चित प्रयोजन की उपलब्धि के लिए गतिमान है और इस प्रक्रिया के पूरा होने पर एक दिन आदम का बेटा पुन: स्वर्ग प्राप्त कर लेगा। ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार यह स्वर्ग-प्राप्ति ही वह उद्देश्य है जिसकी ओर समूची मानवजाति उन्मुख है। केवल ईसाइयत ही नहीं, समूची यहूदी परम्परा में और इसलिए उस परम्परा से निकले सभी धर्मों-विश्वासों में यह कल्पना किसी न किसी रूप में मिल जाती है।

हेगेल का दर्शन इसी विश्वास की ग्रीक पद्धति से व्याख्या का दार्शनिक प्रयत्न है। दार्शनिक दृष्टि से किसी वैयक्तिक या साकार ईश्वर को सिद्ध करना व्यर्थ मानकर हेगेल ने सृष्टि का मूल 'परम प्रत्यय' या 'परम चेतना' को माना जिसकी तुलना कुछ हद तक भारतीय अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से की जा सकती है। हेगेल ने भी यही माना कि वह 'परम चेतना' ही पूरी विश्व प्रक्रिया और मानवीय चेतना में अभिव्यक्त होती है। इसी कारण हेगेल को आदर्शवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिक कहा जाता है। लेकिन हेगेल यह मानते थे कि इस परम चेतना की अभिव्यक्ति में एक क्रमिक विकास है और उसके चरम बिन्दु पर पहुंचने पर वह अपने को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर सकेगी जो उसका परम आनन्द होगा। इसी कारण इस आदर्शवाद को 'ऐतिहासिक आदर्शवाद' कहा जा सकता है क्योंकि सारा इतिहास और इस इतिहास-क्रम में विकसित सभी संस्थाएं इस विकास-प्रक्रिया का ही हिस्सा हैं। हेगेल इस विकास-प्रक्रिया का भी विश्लेषण करते हैं और इसका आधार द्वन्द्वात्मक पद्धति को बताते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु अन्तर्विरोधयुक्त है और इन अन्तर्विरोधों के समन्वय से ही सत्य को जाना जा सकता है। उन्होंने बताया कि बुद्धि की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है क्योंकि वह प्रत्येक धारणा के बरक्स एक प्रति-धारणा बनाती है और उनकी टकराहट या संवाद में से 'संधारण' या 'सम्यक् धारणा' प्राप्त करती है। इसी को थीसिस (वाद), एण्टी-थीसिस (प्रतिवाद) और सिंथेसिस (युक्तिवाद) कहा गया है। यह बुद्धि विश्वव्यापी तत्त्व है इसलिए समूची प्रकृति और इतिहास-प्रक्रिया में यही क्रम देखा जा सकता है। हेगेल की इस मान्यता के कारण ही उन्हें 'द्वन्द्वात्मक आदर्शवादी' कहा जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से इतिहास की व्याख्या की एक महत्त्वपूर्ण कोशिश होते हुए भी हेगेल का व्यावहारिक विश्लेषण न केवल पूर्वाग्रहपूर्ण लगता है बल्कि वह इतिहास में विकास को भी अपने समय के आगे नहीं देख पाता। हेगेल की यह मान्यता थी कि भौगोलिक दृष्टि से सभ्यता का पश्चिम-केन्द्रित होते जाना इसी

द्वंद्वात्मकता का चरम विकास है। यदि पूरी मानव-सभ्यता को एक इकाई की तरह देखा जाए तो हेगेल के अनुसार भारत और चीन जैसी पूर्वी सभ्यताओं के अन्तर्विरोध से मध्य एशिया की सभ्यताओं मे गुणात्मक विकास हुआ और उनके अन्तर्विरोधो ने यूनान की महान् सभ्यता को जन्म दिया। लेकिन इसके अपने अन्तर्विरोध थे जिनका एण्टीथीसिस' रोमन सभ्यता में था।

लेकिन समय के साथ निरंकुशता के विकास के कारण इस सभ्यता का विघटन हो गया जिससे अन्धकारपूर्ण मध्ययुग का जन्म हुआ। इस अन्धकार का एण्टी-थीसिस जर्मन धर्म-सुधार और प्रबुद्धता के युग में देखा जा सकता है जिससे आधुनिक मनुष्य का आध्यात्मिक व्यक्तिवाद सम्भव हो सका है। इसलिए यह भी आश्चर्यजनक नहीं लगता कि धार्मिक विकास की दृष्टि से प्राचीन पूर्वी धर्मों को धारणा और ग्रीक धर्म को प्रतिधारणा के रूप में देखते हुए ईसाई धर्म को धार्मिक विकास की चरम स्थिति के रूप में स्थापित किया गया। स्वयं ईसाई धर्म में भी 'पिता पुत्र और पवित्र आत्मा' (ट्रिनिटी) की कल्पना में पिता धारणा, पुत्र प्रति-धारणा और पवित्र आत्मा संधारणा कहे जा सकते हैं।

राजनैतिक संस्थाओं की विकास प्रक्रिया में भी हेगेल ने 'राष्ट्रीय राज्य' (नेशन स्टेट) में परम प्रत्यय की चरम अभिव्यक्ति मानी और इसलिए स्वतन्त्रता को नये सिरे से परिभाषित करते हुए उन्होंने उसे कानून के सादर पालन में निहित किया। स्वाभाविक था कि न केवल प्रशा के राजा ने उन्हें सम्मानित किया बल्कि फिक्टे और हेगेल को जर्मन राष्ट्रवाद के दार्शनिक माना गया और हिटलर जैसे तानाशाहों ने भी हेगेल के इन विचारों की प्रशंसा की जिनके अनुसार 'परम प्रत्यय' की चरम अभिव्यक्ति 'राष्ट्र-राज्य' में है और इसलिए प्रत्येक नागरिक को उसके आदेशों का पालन करने और उसके लिए स्वयं को उत्सर्ग करने को तैयार रहना चाहिए। क्या यह इसी कारण है कि सभी प्रकार के राष्ट्रवादी (यहाँ तात्पर्य एक राजनैतिक दर्शन के रूप में है) राष्ट्र को पिता या माता और देवतुल्य मानते हैं?

सभ्यता की पूरी प्रक्रिया के बारे में विचार करने के कारण स्वाभाविक ही हेगेल ने कलाओं के विकास का भी विश्लेषण किया। कलाओं का उच्चावच क्रम तय करते हुए उसने स्थापत्य को सबसे निचले स्तर पर रखा क्योंकि यह सर्वाधिक कम विषयीपरक है। मूर्तिकला और चित्रकला में अपेक्षाकृत विषयीपरकता अधिक होती है, अतः उन्हें दूसरे स्तर पर रखा गया है। हेगेल के अनुसार संगीत और काव्य उच्च स्तर पर हैं लेकिन उनमें भी काव्य उच्चतम स्तर पर है क्योंकि संगीत बुद्धितत्त्व की बजाय ऐन्द्रिक अनुभव पर आधारित है। काव्य में इसलिए 'परम प्रत्यय' की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावी हो सकती है। कलाओं के विकास का विश्लेषण करते हुए हेगेल का निष्कर्ष था कि पूर्वी कलाएं प्रतीकात्मक और रहस्य-मूलक रहीं जिसकी प्रतिधारणा ग्रीक कला में मिलती है जिसमें यथार्थवादिता का

प्राधान्य रहा जबकि हेगेल के अपने युग में विकसित रोमांटिक कला में इन दोनों का समन्वय होकर सिंथेसिस या 'सधारणा' प्राप्त होती है।

स्पष्ट है कि हेगेल के विचार राष्ट्रवाद, जातीय पूर्वाग्रहों और कुछ हद तक सम्प्रदायवाद से ग्रसित हैं। उनके चिन्तन की एक सीमा यह भी है कि वह इतिहास की प्रक्रिया को अपने समय से आगे नहीं देख पाते और शायद इसका कारण यह है कि वह आध्यात्मिक विकास के इतिहास की कोई मूल्यगत व्याख्या नहीं करते जिस प्रकार मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद की विकास प्रक्रिया को आर्थिक आधारों पर व्याख्यायित करने का प्रयत्न करते हैं। स्वतन्त्रता की अवधारणा हेगेल के दर्शन में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट न कर पाने और स्वतन्त्रता को नेशन स्टेट' के अधीन कर देने तथा राजनीति में लोकतन्त्र से असहमत होने के कारण हेगेल के तत्सम्बन्धी विचार स्वयं अन्तर्विरोधों से ग्रस्त हो जाते हैं। धर्म, कला और राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में पश्चिमी और पश्चिम में भी अन्ततः जर्मन दृष्टिकोण का समर्थन हेगेल के व्यावहारिक विश्लेषण की सीमा है। दर्शन-पद्धति से किसी भी सामाजिक-राजनैतिक प्रणाली को समर्थन मिल सकता सम्भव है लेकिन इस उद्देश्य के लिए उसका इस्तेमाल दुर्भाग्यपूर्ण है। हेगेल चाहे सचेत स्तर पर यह इस्तेमाल न भी करते हों पर अपने समय और सांस्कृतिक-राजनैतिक परिवेश से आगे न देख पाना उनकी कमजोरी है।

लेकिन इससे दार्शनिक पद्धति निर्माण के क्षेत्र में हेगेल का महत्त्व कम नहीं होता। उनकी पद्धति जैसा कि एक दर्शनशास्त्री का कहना है, विश्व प्रक्रिया की पूर्ण या विस्तृत व्याख्या करने का सम्भवतः सबसे बड़ा प्रयत्न है। यह पद्धति विश्व के किसी अंग को अछूता नहीं छोड़ती, प्रकृति जगत के अतिरिक्त वह जीव-जगत एवं चेतन मनुष्य के नैतिक और बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक, वैयक्तिक और सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक, साहित्यिक और धार्मिक इतिहास को समग्रता में समझाने की कोशिश करती है। हेगेल अनुभव या अन्य किसी भी प्रणाली पर 'रीज़न' या बुद्धितत्त्व की वरीयता देते हैं। द्वन्द्वात्मक विकास-प्रक्रिया से सम्बन्धित उनके विचारों का प्रभाव उनके सबसे बड़े विरोधी दार्शनिक कार्ल मार्क्स तक पर दिखाई देता है। उनके बाद प्रत्येक दार्शनिक के लिए यह आवश्यक-सा हो गया कि वह केवल अस्तित्व के बारे में नहीं, इतिहास प्रक्रिया के बारे में भी अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करे। वैसे तो हेगेल को एकेडेमिक दार्शनिक कहा जाता है लेकिन सम्भवतः यह उनका प्रभाव ही है कि उनके बाद दार्शनिकों में सांस्कृतिक-राजनैतिक समस्याओं पर—बल्कि कला और साहित्य की समस्याओं पर भी—केन्द्रित चिन्तन एक आदत बन गया।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या : कार्ल मार्क्स

वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर एक सम्पूर्ण दर्शन के विकास का श्रेय कार्ल मार्क्स (Karl Marx) को दिया जाता रहा है। द्वन्द्वात्मकता प्रकृति का नियम है और पूरी सृष्टि—और इसलिए मानवीय इतिहास—इस प्रक्रिया में से गुजरते हुए विकास की विभिन्न अवस्थाएं प्राप्त करते हैं। इस आधार पर द्वन्द्वात्मक विकासवाद की धारणा हेगेल में भी पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। मार्क्स का मुख्य वैचारिक अवदान यह रहा कि उन्होंने इस प्रक्रिया की भौतिकवादी व्याख्या की। इसीलिए कहा जाता रहा है कि मार्क्स ने हेगेल के दर्शन को शीर्षासन की स्थिति में स्थापित कर दिया। हेगेल अध्यात्मवादी थे और समझते थे कि द्वन्द्वात्मक विकास की प्रक्रिया से गुजरते हुए इतिहास एक 'परम' प्रत्यय या विचार की क्रमशः पूर्णता की ओर अग्रसर प्रक्रिया है। मार्क्स ने भी यह तो माना कि इतिहास पूर्णता की ओर अग्रसर है पर यह पूर्णता किसी परम चेतना की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि मानव-समाज की वर्गहीन अवस्था है।

मार्क्स से पूर्व के भौतिकवादी विचारकों की मुख्य कमजोरी यह थी कि वे सृष्टि के विकास और मानवीय संस्कृति के इतिहास की कोई संगत व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर पाये थे। मार्क्स ने पूरे मानवीय इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की। उनके अनुसार मानवीय जीवन के लिए उत्पादन एक मूलभूत भौतिक आवश्यकता है, इसलिए मानवीय इतिहास की प्रक्रिया को उत्पादन के तरीकों में हुए परिवर्तन और विकास के आधार पर ही समझा जा सकता है। इसी को कार्ल मार्क्स द्वारा विकसित 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' का सिद्धान्त कहा जाता है। आदिम युग से लेकर आज तक के इतिहास को उत्पादन के साधनों में हुए परिवर्तन के आधार पर चार बड़े युगों में विभाजित करते हुए मार्क्स ने बताया कि आदिम कम्यून युग, दासता का युग, सामन्तवाद का युग और बुर्जुआ युग इसी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के कारण क्रमशः विकसित होते गए हैं। विकास का कारण प्रत्येक युग की उत्पादन-प्रणाली के अपने अन्तर्विरोध हैं। थीसिस, एण्टी-थीसिस और सिंथेसिस की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के कारण इन अन्तर्विरोधों से एक नयी पद्धति का विकास होता

है। मनुष्य का जीवन मूलत- उत्पादन पर आधारित है अत उत्पादन-प्रणाली व प्रक्रिया म परिवर्तन के साथ ही सामाजिक सम्बन्धो, सस्थाओ और विचारो-सवदनाओ म भी परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इसी कारण सामाजिक ढाचो म भी(जो मार्क्सवाद के अनुसार एक 'सुपर स्ट्रक्चर' है)उत्पादन-प्रणाली के परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सामाजिक ढाचे के अन्तर्विरोध उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व के आधार पर सामाजिक वर्गों के रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। इतिहास के प्रत्येक युग मे उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन के साथ वर्ग-स्वामित्व मे भी परिवर्तन होता रहा है और एक दर्जा नीचे का वर्ग स्वामित्व प्राप्त करता रहा है। दासता के युग से बुर्जुआ स्वामित्व के युग तक क्रमश यही स्वामी वर्ग राज्य और समाज की नियन्त्रक शक्तिया रहे हैं और उनके विचार—जो उनक अपने वर्गीय स्वार्थो स अनिवार्यत जुडे रहते हैं—सामाजिक-राजनैतिक सस्थाओ, धर्म, कला साहित्य आदि को प्रभावित करते रहे हैं। इस प्रकार शासक और शासित वर्गों के बीच का यह सघर्ष इतिहास का बुनियादी सघर्ष है। आधुनिक युग म बुर्जुआ वर्ग के अलावा अब केवल निम्नतम सर्वहारा वर्ग ही बचा रह गया है अत इन दोनो के बीच सघर्ष का नतीजा उत्पादन के साधनो और 'सुपर स्ट्रक्चर' पर सर्वहारा वर्ग का स्वामित्व होगा। बुर्जुआ वर्ग के नष्ट हो जाने पर केवल सर्वहारा वर्ग ही बचा रहेगा, अत इस प्रक्रिया म एक वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। वर्गीय भेद न रहने के कारण सभी समान होगे अत 'सुपर स्ट्रक्चर' मे भी समानता का सिद्धान्त प्रतिफलित होगा जिसका तात्पर्य एक राज्यविहीन समाज की स्थापना होगा। राज्य वर्गीय स्वार्थो का पोषण करने वाली सस्था है अत जब वर्गीय स्वार्थ नही रह जायेंगे तो राज्य भी नही रह पायेगा। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह इतिहास की इस प्रक्रिया को पहचाने और उसके विकास के साथ अपने को जोड दे। यही उसकी नैतिकता है। इस विकास की गति को तीव्र करने के लिए किन्ही भी तरीको को काम मे लिया जा सकता है क्योंकि साध्य का औचित्य साधनो को भी उचित करार दे सकता है। इस पूरी प्रक्रिया को मार्क्स ने 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' नाम दिया।

ज्ञान मीमासा के क्षेत्र म भी कार्ल मार्क्स ने इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया का प्रतिफलन देखा। उसके अनुसार विचारो का विकास सामाजिक-भौतिक व्यापार के अनुसार ही निर्धारित होता है। प्रत्येक नया विचार अपने समय की सामाजिक भौतिक परिस्थितियो की उपज होता है। सामाजिक-भौतिक अन्तर्विरोध नये विचार का विकास सम्भव करत हैं और उन दोनो की टकराहट मे नयी सामाजिक भौतिक परिस्थितियो के साथ नया ज्ञान भी विकसित होता है। मार्क्सवाद इसलिए किसी भी ज्ञान को अन्तिम सत्य के रूप मे स्वीकार नही करता

क्योंकि नयी सामाजिक-भौतिक परिस्थितियां और नये वैज्ञानिक अन्वेषण के कारण किसी नये ज्ञान का विकास भी हो सकता है। लेकिन इस आधार पर किसी युग मे विकसित ज्ञान झूठा नही होता—बल्कि वह ज्ञान के विकास की एक स्थिति विशेष होगा जिससे आगे का ज्ञानात्मक विकास निकलता है।

सृष्टि और ज्ञान के विकास की इस भौतिकवादी व्याख्या को स्वीकार करने के कारण मार्क्स ने ज्ञान का आधार-स्रोत वैज्ञानिक अन्वेषण को माना। प्राकृतिक विज्ञानो के क्षेत्र मे बढ रही जानकारी के साथ-साथ मनुष्य और उसके जीवन की विकास-प्रक्रिया के बारे मे भी हमारा ज्ञान बढता जाता है। इस कारण मार्क्सवादी शिक्षा-दर्शन म सर्वाधिक आग्रह विज्ञान की शिक्षा पर रहा है। इससे न केवल छात्र को अपने जीवन की वास्तविक प्रक्रिया समझ म आयगी और वह प्रकृति के साथ उपयोगी रिश्ता कायम कर सकेगा बल्कि विज्ञान प्रक्रिया का शिक्षण उसकी चिन्तन-प्रक्रिया को भी वैज्ञानिक स्वरूप देगा जिसस वह अपनी सामाजिक-भौतिक परिस्थितियो का वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकेगा और अपने को इतिहास की विकासशील प्रवृत्तियो के साथ जोड सकेगा। विज्ञान का आधार भौतिक जगत होने के कारण यह अभौतिकवादी मान्यताओ मे उत्पन्न सारे अंधविश्वासो को भी समझ सकेगा। इसीलिए मार्क्सवादी ज्ञान म धर्म-अध्यात्म आदि प्रवृत्तियो और आत्मा स्वर्ग पुनर्जन्म आदि अवधारणाओ को अन्धविश्वास समझा जाता है जिनका प्रयोग शासक वर्ग अपने वर्ग-स्वार्थों की रक्षा के लिए करता रहता है।

भौतिक जगत और उसको समझने की वैज्ञानिक प्रणाली को आधार के रूप मे स्वीकार करने के कारण ही मार्क्सवाद को वैज्ञानिक दर्शन और उसके आधार पर एक वर्गविहीन समाज स्थापित करने के आन्दोलन को 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहा गया। इसमे कोई सन्देह नही कि बीसवी शताब्दी के विचारको और सामाजिक कार्यकर्ताओ को मार्क्सवाद की 'वैज्ञानिकता' और वर्गविहीन तथा शोषणमुक्त समाज की कल्पना ने बहुत अधिक प्रभावित किया। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद इस दर्शन की ओर लोगो का ध्यान और अधिक गया और आज यह पूरी दुनिया को प्रभावित करने वाले विचार के रूप मे स्वीकार किया जाता है। वास्तव मे एक दार्शनिक के रूप मे मार्क्स का महत्त्वपूर्ण अवदान 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' का सिद्धान्त है। द्वन्द्वात्मकता, भौतिकवाद और विकासवाद का सिद्धान्त तो मार्क्स से पहले भी प्रतिष्ठित थे—पर मार्क्सवाद ने अपनी आर्थिक व्याख्या मे इन सभी को समेटकर एक नया सिद्धान्त रचा जो सामाजिक दर्शन के रूप म पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका। लेकिन बाद के आलोचको को मार्क्स के दर्शन म बहुत से अन्तर्विरोध नजर आये। यह कहा गया कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार केवल आर्थिक नहीं हो सकता। मनुष्य आर्थिक आवश्यकताओ से ऊपर उठकर दूसरो के लिए त्याग करता और कष्ट उठाता है।

इस तरह के मानवीय मूल्य किसी आर्थिक आवश्यकता से उत्पन्न नहीं है। मनुष्य में प्राकृतिक एवं मानवीय सौन्दर्य के प्रति आकर्षण, कला-साहित्य आदि की जो प्रवृत्तियां हैं उन्हें आर्थिक आधारों पर नहीं समझा जा सकता। वैज्ञानिक आविष्कार भी कई दफा पुराने ज्ञान के अन्तर्विरोध के आधार पर नहीं बल्कि एक संयोग की तरह घटित हुए हैं अतः मनुष्य की चेतना के विकास को केवल आर्थिक आधारों पर नहीं समझा जा सकता। यह भी कहा गया कि प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों को मनुष्य पर ठीक उसी तरह लागू नहीं किया जा सकता जिस तरह प्रकृति पर। मनुष्य में चेतना है—चाहे वह पदार्थ में से ही कई गुणात्मक परिवर्तनों के बाद विकसित हुई हो—और इस कारण वह अपनी चेतना का उपयोग प्रकृति के नियमों को अपने अनुकूल इस्तेमाल करने के लिए कर सकता है जो प्रकृति नहीं कर सकती। बुद्धि की अपनी प्रक्रिया है और वह अनिवार्यतः वर्ग-स्वार्थों के आधार पर ही मूल्य-मीमांसा का विकास नहीं करती यद्यपि यह हो सकता है कि स्वतन्त्र रूप से विकसित किसी विचार का इस्तेमाल कुछ लोग वर्गीय स्वार्थों के लिए भी कर लें जैसा कि विभिन्न दफा वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ करते भी हैं।

इसी प्रकार यह भी स्पष्ट नहीं होता कि वर्गविहीन समाज की स्थापना हो जाने पर द्वन्द्वात्मकता की प्रक्रिया का सामाजिक स्वरूप क्या होगा? क्या यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जायगी? पर यह प्रक्रिया तो 'लॉ ऑफ नेचर' है? तो क्या नये वर्ग पैदा होंगे जिनमें फिर वर्ग-संघर्ष होगा? तब 'समानता' और 'वैज्ञानिक समाजवाद' का क्या होगा? यदि प्रत्येक दर्शन अपने समय की सामाजिक-भौतिक परिस्थितियों से निरूपित होता है तो क्या मार्क्सवाद को भी 19वीं शताब्दी के यूरोप की परिस्थितियों से उत्पन्न माना जाय और उसे एक स्थायी जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया जाय? बल्कि सबसे बड़ा आक्षेप तो यही लगाया जाता है कि प्रकृति के चेतना में विकसित होने की प्रक्रिया को कैसे समझा जाय? गुणात्मक परिवर्तन तभी सम्भव है जब उसके तत्त्व पहले से पूर्वरूप में विद्यमान हों। तो क्या प्रकृति में चेतना तत्त्व रूप में पहले से विद्यमान है? यदि ऐसा है तो चेतना को पदार्थ से उत्पन्न माना जाय या यह माना जाय कि वह पदार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

कुछ लोग मार्क्सवाद से इसलिए भी असहमति प्रकट करते हैं कि वह सर्वहारा के अधिनायकत्व के आधार पर व्यक्ति स्वतन्त्रता का दमन करता है। लेकिन यहां यह स्पष्ट समझ लेना जरूरी है कि मार्क्स 'प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सबकी स्वतन्त्रता की अनिवार्य शर्त' मानते थे। मार्क्सवादी राज्यों में स्वतन्त्रता का दमन उन राज्यों पर काबिज राजनीतिक दलों का अपना आविष्कार है जो उन्होंने अपने शासन की सुविधा के लिए अपनाया है। इस दमन को मार्क्सवादी दर्शन की अनिवार्य उपज नहीं माना जा सकता।

सृजनात्मक विकासवाद : बर्गसां

उन्नीसवी शताब्दी के दार्शनिक चिन्तन पर विकासवाद के सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव दिखाई दे रहा है। हेगेल और मार्क्स के इतिहास-दर्शन पर भी उसका प्रभाव है ही, लेकिन स्पेन्सर और हेकेल की सृष्टि-मीमांसा तो सीधे चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त से ही प्रेरित रही, यद्यपि दोनो की चिन्तन-पद्धतियो मे मौलिक भेद है। स्पेन्सर विश्व-प्रक्रिया के पीछे किसी अज्ञेय तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते थे जबकि हेकेल पूर्णतः पदार्थवादी थे लेकिन दोनो यह मानते थे कि विश्व-प्रक्रिया एक स्वायत्त प्रक्रिया है जिसमे कोई बाहरी हस्तक्षेप नही है। दर्शनशास्त्र के कुछ विद्वानो ने यह दिखलाने का प्रयत्न भी किया है कि भारतीय सांख्यदर्शन मे सृष्टि की विकास प्रक्रिया को करीब-करीब उसी तरह समझने की कोशिश की गयी है जिस तरह स्पेन्सर की पद्धति मे। स्पेन्सर और हेकेल दोनो मानते है कि प्रारम्भ मे पदार्थ एकरस था और उसमे संश्लिष्टता तथा जटिलता नही थी लेकिन उसी मे सारे जीवन का विकास हुआ और साथ ही संश्लिष्टता और जटिलता बढ़ती गयी। यही सिद्धान्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संस्थाओ पर भी लागू होता है। दरअसल यह एक प्रकार का यान्त्रिक विकासवाद है क्योकि इसमे प्रत्येक घटना का कारण उसके अतीत मे छिपा होता है—बल्कि यह भी कह सकते है कि एक बार एक स्थिति को ठीक से समझ लेने पर सारे भविष्य का ठीक-ठीक पूर्वानुमान लगाया जा सकता है क्योकि वह भविष्य उसी स्थिति से निसृत होता है। दूसरे शब्दो मे, इस चिन्तन-पद्धति के अनुसार विश्व-प्रक्रिया मे यद्यपि कोई बाहरी हस्तक्षेप नही हो सकता लेकिन साथ ही स्वतन्त्र मानवीय चेतना के अपूर्वानुमेय व्यवहार की भी कोई गुंजाइश नही रहती। मानवीय चेतना का व्यवहार भी स्वतन्त्र और सर्जनात्मक न रहकर यान्त्रिक हो जाता है।

आधुनिक दर्शन के इतिहास मे हेनरी बर्गसाँ (1859-1941) का महत्त्व इस बात मे है कि वह विश्व को एक सतत विकासमान प्रक्रिया के रूप मे तो देखते है लेकिन उसे किसी प्रकार की यान्त्रिकता या प्रयोजनमूलकता से संचालित नही मानते। वह न तो स्पेन्सर-हेकेल को स्वीकार करते है, न ही हेगेल-मार्क्स को,

क्योंकि विश्व को विकास-प्रक्रिया को यन्त्रवादी और प्रयोजनवादी दोनो ही प्रकार की व्याख्याएं मानवीय सर्जनात्मकता के लिए कोई अवकाश नही छोड़ती। एक दार्शनिक के शब्दो में, 'यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद दोनो ही काल-सक्रमण को एक मिथ्या प्रतिभास बना देते हैं, दोनो के अनुसार विश्व-प्रक्रिया का क्रम पहले से निश्चित है। स्पष्ट है कि इस निश्चित क्रम मे मानवीय चेतना और आचरण की कोई निर्णायक भूमिका नही रहती।

बर्गसाँ की विशेषता यह है कि वे ज्ञान-मीमासा और सृष्टि मीमासा दोनो ही क्षेत्रो मे यूरोपीय चिन्तन मे एक नयी प्रवृत्ति का सूत्रपात करते हैं। यूरोपीय दार्शनिक अपनी ज्ञान-मीमासा मे या तो तर्कणावादी (रेशनलिस्ट) रहे या अनुभववादी (एम्पीरिसिस्ट)। बर्गसाँ दोनो ही पद्धतियो के अधूरेपन को दर्शाते हुए कहते हैं कि जहा तर्कणा या बुद्धि किसी भी वस्तु को उसकी समग्रता में नही बल्कि खण्डो मे ही समझ सकती है और यह कभी नही समझ सकती कि उन खण्डो के अतिरिक्त भी किसी वस्तु म कोई अन्य गुण हो सकता है, वही अनुभववाद किसी वस्तु के गुणो का विश्लेषण नही कर सकता। इसलिए इन दोनो पद्धतियो की उपयोगिता होते हुए भी ये अधूरी हैं। बर्गसाँ ज्ञान को दो प्रकारो मे बाटकर देखते हैं। पहला सापेक्ष और प्रतीकात्मक है जिसका सम्बन्ध वास्तविकता के बाह्य और औपचारिक स्वरूप से है। बुद्धि और ऐन्द्रिक सवेदनो द्वारा हम ज्ञान के इस पक्ष तक ही पहुच सकते हैं। ऐसा नही है कि इस ज्ञान का कोई महत्त्व नही है।

व्यावहारिक भौतिक जीवन म निश्चय ही इस ज्ञान के बिना काम नही चल सकता। लेकिन यह ज्ञान वास्तविकता को यथावत् न जानकर उसे कुछ धारणाओ मे जानने-समझने की कोशिश करता है जिसका तात्पर्य यह हुआ कि हम वास्तविकता को न जानकर उसके बारे मे कुछ धारणाओ को जानते और अभिव्यक्त करते हैं। यह भी ज्ञान का एक प्रकार है लेकिन इसमें वास्तविकता के बाह्य रूप को या उसके नियमो को जानते हुए भी उससे सीधा साक्षात्कार नही होता। बर्गसाँ इस सीधे साक्षात्कार या अपरोक्ष ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानते हैं। भारतीय वेदान्त दर्शन मे भी इसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान मे भेद किया गया है। भारतीय वेदान्त की ही तरह बर्गसाँ भी अपरोक्षानुभव को वरीयता देते हैं और मानते हैं कि यह अपरोक्षानुभव सहज या प्रातिभ अनुभव—इंटुइशन—द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। यह प्रातिभ अनुभव एक प्रकार से पदार्थ के अन्दर प्रवेश कर जाना है और उसका उसके सारे गुणो सहित समग्र रूप मे अनुभव करना है जो बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा किसी भाति सम्भव नही हो सकता। अपरोक्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान पर यह आग्रह भारतीय दर्शन मे सदैव रहा है लेकिन यूरोपीय चिन्तन मे यह एक नयी प्रवृत्ति है जो बाद मे मेनाग, जार्ज सन्तायना आदि मे भी दिखायी देती है। भारतीय और पश्चिमी ज्ञान-मीमासा की

तुलनात्मक समीक्षा करते हुए एक दर्शनशास्त्री ने लिखा है कि "ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए भारतीय विचारकों की दृष्टि प्रधान रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान पर रहती है, इसके विपरीत यूरोपीय विचारकों का ध्यान मुख्यतः बौद्धिक ज्ञान पर रहता है। इसके परिणामस्वरूप जहां वेदान्त ज्ञानत्व और अपरोक्षत्व को एक घोषित करता है वहां यूरोपीय विचारक प्रायः ज्ञान को प्रत्ययात्मक या धारणात्मक बताते हैं।" बर्गसों कहते हैं कि विज्ञान या तर्कणा ज्ञान को केवल धारणाओं के रूप में समझ सकती है इसलिए अधूरी है जबकि प्रातिभ ज्ञान या 'इंट्यूशन' अपरोक्षानुभूति पर आधारित होने के कारण सम्पूर्ण है।

यह प्रातिभ ज्ञान या 'इंट्यूशन' वस्तुतः विश्लेषणात्मक नहीं बल्कि सर्जनात्मक ज्ञान है और इसकी संगति बर्गसों की सृष्टि-मीमांसा से भी बैठ जाती है। बर्गसों ने सृष्टि की विकास-प्रक्रिया को अपने ग्रन्थ 'सृजनात्मक विकास' (The Creative Evolution) में स्पष्ट किया है जो केवल गम्भीर अध्येताओं के लिए ही नहीं, सामान्य पाठकों के लिए भी रोचक और सुगम है। बर्गसों यान्त्रिक विकास की अवधारणा को अस्वीकार करने के कारण किसी निश्चित कार्य-कारण परम्परा को विकास का हेतु नहीं मानते और न सृष्टि का कोई अन्तिम प्रयोजन ही मानते हैं जिसकी ओर सारा विकास उन्मुख हो। बर्गसों की मान्यता है कि जीवनशक्ति या प्राणशक्ति अपने स्वभाव से सर्जनशील है और उसकी यह सर्जनशीलता ही काल में गति करती हुई विकास-प्रक्रिया को संचालित करती रहती है। सर्जनशीलता में स्वतन्त्रता और अपूर्वानुमेयता अन्तर्हित हैं, इसलिए यह न तो किसी यान्त्रिक कार्य-कारण परम्परा में बंधी है और न किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य या प्रयोजन से। कार्य-कारण से बंधने पर इसकी स्वतन्त्रता नहीं रहती और किसी पूर्व-निर्धारित लक्ष्य या प्रयोजन से निर्देशित होने पर इसकी दिशा व क्रम निश्चित हो जाते हैं अर्थात् दोनों ही स्थितियों में सर्जनात्मकता का सहज प्रवाह बाधित होता है। इसीलिए बर्गसों मानते हैं कि जीवन के विकास की गति भिन्न भिन्न दिशाओं में है। वनस्पति-जगत, जन्तु-जगत और मानव-जगत में जीवन की अभिव्यक्ति इसीलिए अलग-अलग ढंग और स्तर पर होती है। जिसे हम जड़ जगत कहते हैं वह भी वास्तव में प्राणशक्ति की गति का अवरुद्ध हो जाना है। इस प्रकार बर्गसों एक-रैखीय विकास की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए उसे त्रिदिशात्मक मानते हैं। वनस्पति-जगत में यह प्राणशक्ति उदासीनता में बद्ध हो जाती है, पशु जगत में आवेगों के रूप में अभिव्यक्त होती है और मानव जगत में चिन्तन-प्रतिभा के रूप में। आवेगमूलक होने के कारण पशु व्यवहार का पूर्व निर्धारण हो सकता है जबकि चिन्तन प्रतिभा के कारण मनुष्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है और इसीलिए उसे यान्त्रिक धारणाओं के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

जीवन की सर्जनशक्ति पर केन्द्रीय आग्रह या बल देने के कारण स्वाभाविक

ही था कि बर्गसाँ ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करते जो मनुष्य की स्वतन्त्रता, गरिमा और सर्जनात्मकता को बाधित, दमित या नियन्त्रित करती हो। इसलिए बर्गसाँ ने मनुष्य को गुलाम बनाने वाली या उसका अवमूल्यन करने वाली सभी शक्तियो की भर्त्सना की। "उन्होंने पूंजीवाद की बुराइयों की ओर ध्यान आकर्षित किया लेकिन हिंसात्मक वर्गसघर्ष की बजाय एक ऐसे सर्जनात्मक प्रेम की कल्पना की जो सभी वर्गों के बीच समन्वय स्थापित कर सभी को विकास के अवसर दे सके।"

बर्गसाँ मानते थे कि व्यक्ति गतिशील है जबकि सस्थाए स्थिरता की ओर उन्मुख रहती हैं। ऐसी स्थिति म दोनों मे सघर्ष स्वाभाविक है। अत सस्थाओ को इतना लचीला होना चाहिए कि वे व्यक्ति की गतिशीलता का दमन न करें तथा उसकी सर्जनात्मकता के नये विस्फोट मे स्वय को जीवन्त बनाए रख सकें। रूढियो से जकडा हुआ समाज आततायी हो जाता है लेकिन वह सर्जनात्मकता का नष्ट नही कर सकता बल्कि इस प्रक्रिया मे स्वय ही विघटित हो जाता है। सृजनशील प्राणशक्ति को विश्व-प्रक्रिया की प्रेरणा मानने के कारण बर्गसाँ का दर्शन मानवीय भविष्य म अदम्य आस्था पैदा करता है और सकट म साहसपूर्ण सघर्ष की प्रेरणा देता है।

लेकिन बर्गसाँ का दर्शन भी सम्पूर्णत निर्दोष नही कहा जा सकता। सृष्टि की त्रिआयामीय विकास-प्रक्रिया का कोई दार्शनिक आधार स्पष्ट नही होता। वनस्पति जगत मे सर्जनशीलता निष्क्रिय क्यो हो गयी? पशु जगत म आवेग को प्राणशक्ति तो मान सकते है पर वह सर्जनशील क्यो नही है? बर्गसाँ की ज्ञान-मीमासा भी यह स्पष्ट नही करती कि बाह्य जगत या वस्तुओ का प्रातिभ ज्ञान या वस्तुओ मे प्रवेश करना कैसे सम्भव है। आत्मा की अपरोक्षानुभूति तो हो सकती है पर वस्तुओं की अपरोक्षानुभूति कैसे सम्भव है, क्योकि ऐन्द्रिक ज्ञान को अनिवार्यत तर्कणावाद या अनुभववाद की ओर ही ले जाएगा। बर्गसाँ यह भी स्पष्ट नही करते कि विकास-क्रम मे नवीनताओ की उत्पत्ति कैसे होती है क्योकि केवल प्राण-तत्त्व का स्वभाव कह देने से उनकी दार्शनिक व्याख्या सम्भव नही है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि बर्गसाँ ने विकासवादी दर्शन-पद्धति को एक नया आयाम दिया और उनके चिन्तन ने मानवीय सर्जनशीलता का केन्द्रीय महत्त्व समझने की ओर समकालीन विश्व का ध्यान आकर्षित किया। जिस विकासवाद का उपयोग मनुष्य के अवमूल्यन म किया जा रहा था, बर्गसाँ ने उसी के माध्यम से मानवीय स्वतन्त्रता, गरिमा और सर्जनशीलता को पुन स्थापित किया।

सत्य की आत्मपरकता का आग्रह : किर्केगार्द

वैज्ञानिकतावाद, प्रत्यक्षवाद और ऐतिहासिक प्रयोजनवाद उन्नीसवीं शताब्दी के दर्शन की मुख्य आधार भित्तियाँ थीं। हेगल आत्मवादी थे और मार्क्स भौतिकवादी—लेकिन दोनों ही विचारकों ने विश्व इतिहास की प्रक्रिया पर अधिक जोर दिया और व्यक्ति को उस प्रक्रिया के एक असहाय अंग के रूप में देखा। लेकिन उन्नीसवीं शती में ही एक क्षीण धारा उस दर्शन की भी बही जिसने न केवल हेगल और मार्क्स के समष्टिवाद और इतिहासवाद का विरोध किया बल्कि बीसवीं शताब्दी में अस्तित्ववाद के रूप में दर्शन की एक मुखर धारा बन गया। सोरेन किर्केगार्द (1813-1855 ई०) हेगल के घनिष्ठ इष्ट समकालीन थे और उनके पांडित्य का सम्मान करते हुए भी उनके केन्द्रीय विचार को मानवीय संदर्भ में अप्रासंगिक मानते थे।

यह माना जाता है कि सोरेन किर्केगार्द के अपने जीवन की कुछ घटनाओं ने उनकी विचार पद्धति को बहुत प्रभावित किया। लेकिन यहाँ उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि उन्होंने पूरा जीवन यही कोशिश की कि उनके विचारों और जीवन में खाई न रहे अर्थात् वह एक प्रामाणिक जीवन जी सकें। किर्केगार्द की बुनियादी मान्यता यह थी कि जीवन एक जीवंत वास्तविकता है जिसे निरपेक्ष बौद्धिक धारणाओं और परिभाषाओं में नहीं बाँधा जा सकता। विचार के माध्यम से मनुष्य अपने को नहीं समझ सकता, वह अपनी भावनाओं और अनुभूति में ही अपना ज्ञान कर सकता है। हेगेल और उनकी परम्परा के दार्शनिकों की असंगति यह रही कि उन्होंने मनुष्य के मूर्त अस्तित्व की बजाय निरपेक्ष चेतना और निरपेक्ष सत्य पर अधिक जोर दिया। किर्केगार्द मानते हैं कि वास्तविक ज्ञान हमारे अस्तित्व में निहित है इसलिए वह व्यक्ति सापेक्ष (Subjective) है क्योंकि अस्तित्व और उसकी अनुभूति व्यक्तिगत है। निरपेक्ष सत्य न केवल व्यक्ति की सत्ता को गौण कर देता है बल्कि उसे ऐतिहासिक प्रक्रिया या समष्टि के हिस्से के ही रूप में देख पाता है और इसलिए उसकी स्वतंत्रता को भी आघात पहुँचाता है। जिसे हम वस्तुपरक

(Objective) चिन्तन कहते हैं उसका नतीजा एक वस्तुपरक सत्य के रूप में ही हमारे सामने आता है जिसमें वास्तविक मानवीय अस्तित्व की अवहेलना होती है और इस कारण मनुष्य का वास्तविक ज्ञान वहां सम्भव नहीं है।

किर्केगार्द की मान्यता के अनुसार सत्य या वास्तविक ज्ञान सदैव आत्मपरक है। 'अपने को जानना' ही वास्तविक ज्ञान है। उसके अलावा सारा ज्ञान भौतिक जीवन के बारे में चाहे उपयोगी हो वह मनुष्य की अन्तरात्मा के बारे में कोई जानकारी नहीं देता जबकि आत्मिक जीवन ही वास्तविक जीवन है। इसी बात को स्थापित करने के लिए किर्केगार्द ने मनुष्य के जीवन को तीन प्रकारों में बांटा भोग्य (Aesthetic) नैतिक (Ethical) और धार्मिक (Religious)। भोग्य जीवन केवल वस्तुओं के स्तर पर रहता है क्योंकि वस्तुओं में ही परम सुख की कल्पना करता है। किर्केगार्द की मान्यता है कि वस्तुपरक सत्य की तलाश करने वाले बौद्धिक को भी इसी स्तर में मानना चाहिए क्योंकि वह भी सत्य को वस्तुओं की निस्संगता की तरह देखता है। इस तरह का जीवन केवल भौतिक स्तर पर रहता है और इसलिए शीघ्र ही ऊब और निराशा पैदा हो जाती है। इससे बचने के लिए इस तरह का व्यक्ति एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर, एक सम्बन्ध से दूसरे सम्बन्ध की ओर तथा एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाता रहता है लेकिन वहां भी उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि वास्तविक ज्ञान अनिवार्यतः अस्तित्वगत है इसलिए आत्मपरक है। भोग्य स्तर का अतिक्रमण किए बिना प्रामाणिक आत्मपरक जीवन सम्भव नहीं है।

किर्केगार्द के अनुसार मनुष्य के जीवन का दूसरा स्तर नैतिक है। नैतिकता की भी किर्केगार्द नयी और मौलिक व्याख्या करते हैं। नैतिकता किसी समाज के प्रचलन, रीति रिवाजों या किसी शास्त्र के अनुकूल जीवन बिताने में नहीं है। नीतिशास्त्र भी अपनी धारणाओं का वस्तुपरक सत्य की तरह रखता है, अतः उसमें भी जीवन और धारणाओं के बीच वह दरार आ जाती है जो बुद्धिवादी दार्शनिकों में पायी जाती है। नैतिक जीवन का तात्पर्य इसीलिए मनुष्य की आत्मिक स्वतन्त्रता के अनुभव में है। दूसरे शब्दों में, यह मनुष्य के वरण की स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता की ओर से उदासीन व्यक्ति वास्तविक अर्थों में नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक होने का अर्थ स्वतन्त्र होना है और इस स्वतन्त्रता को अनुभव करने में जो वेदना सहन करनी पड़ती है वह नैतिक स्तर का जीवन जीने के लिए किया गया बलिदान है क्योंकि इस बलिदान में ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। मैं क्या वरण करता हूं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह वरण मैंने किया है और इस वरण की वेदना और उसके परिणामों को मैं सहन करूंगा। यह स्तर निश्चय ही भोग्य स्तर से बहुत श्रेष्ठ है लेकिन अन्तिम स्तर नहीं है क्योंकि इसमें भी धीरे-धीरे कुछ धारणाएं और व्यवस्था पैदा हो जाती हैं जो पुनः वस्तुपरकता

की ओर ले जा सकती हैं। धर्मों के आधार पर विकसित नीतिशास्त्र इसका उदाहरण है।

इसलिए तीसरा और पूर्ण प्रामाणिक स्तर धार्मिक स्तर है जिसे हम चाहें तो आध्यात्मिक स्तर भी कह सकते हैं क्योंकि यद्यपि किर्केगार्द ने धर्म के रूप में ईसाइयत का जिक्र किया है लेकिन वहाँ भी उनका तात्पर्य चर्च या संगठित धर्म से नहीं बल्कि ईश्वर के प्रति समर्पण से है। किर्केगार्द मानते हैं कि ईश्वर के प्रति श्रद्धा का वरण ही वास्तविक वरण है यद्यपि व्यक्ति इस वरण के प्रति कभी असंशय में नहीं रह सकता। अतः एक दुश्चिंता (Anxiety) उसमें सदैव बनी रहती है। भोग्य और नैतिक स्तरों का दबाव धार्मिक स्तर पर भी लगातार मनुष्य पर बना रहता है। धार्मिक होने का तात्पर्य ईश्वर को एक धारणा की तरह नहीं एक सजीव उपस्थिति की तरह अपने अंदर महसूस करना है। इसलिए इस स्तर पर मनुष्य को अपने को आन्तरिकता में लय कर देना होता है। यही वास्तविक या सार रूप ज्ञान है।

यह ज्ञान केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही प्राप्त हो सकता है और इसके लिए विचार नहीं अनुभूति महत्त्वपूर्ण है अतः स्वाभाविक ही है कि किर्केगार्द किसी भी तरह के समूहवाद का विरोध करते हैं और अकेलेपन के जीवन को श्रेय मानते हैं। हम अक्सर समूह के नियमों में बंधे होते हैं और उसके ही अनुसार निर्णय लेते हैं। किर्केगार्द के मतानुसार इस तरह हम वास्तविक वरण से दूर हो जाते हैं जिसका तात्पर्य है अपने वास्तविक आत्म से विच्छिन्न या अलग हो जाना। यह अलगाव मूल पाप है और इसीलिए ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धायुक्त समर्पण ही एकमात्र रास्ता बचाता है क्योंकि वहीं से उसे कृपा मानी वास्तविक प्रेम और सौहार्द्र मिल सकता है—लेकिन इस पाप के कारण मनुष्य की आत्मा ईश्वर के समक्ष निरंतर काँपती रहती है।

किर्केगार्द पहले ऐसे आधुनिक विचारक थे जिन्होंने मनुष्य के अकेलेपन की अनिवार्यता को रेखांकित किया और उसकी वरण की स्वतंत्रता में ही उसके प्रामाणिक जीवन को पहचाना। इसीलिए उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मौलिक और निराला है क्योंकि वह किसी भी तरह के पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों की अनुपस्थिति में वरण करता है। त्रासदायक और मशीनी समूह-जीवन के कारण किर्केगार्द के विचारों ने शनैः शनैः बीसवीं शताब्दी के बहुत से दार्शनिकों को प्रभावित किया तथा हेडगर और मार्सल आदि ने तो उसे एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में विकसित कर लिया। व्यक्ति के प्रामाणिक जीवन पर आग्रह किर्केगार्द के दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और व्यक्ति की पूर्ण उपेक्षा के माहौल में इस बात का प्रबल आग्रह इनकी मौलिकता और बौद्धिक साहस का प्रमाण है। मनुष्य की मूल पीड़ा की पहचान उन्नीसवीं शती के किसी भी दार्शनिक में इस स्तर पर नहीं

मिलती। लेकिन सामाजिक जीवन की पूर्ण उपेक्षा किर्केगार्द की एक असगति लगती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्णय स्वय लेता है लेकिन कई मामलो मे—भावना जगत मे भी—वह दूसरे व्यक्तियो मे समान है, अत यह नही कहा जा सकता कि अनिवार्य मानव प्रकृति जैसी कोई चीज नही है—और यदि अनिवार्य मानव प्रकृति जैसी कोई चीज है तो मानवीय वरण उससे पूर्ण मुक्त नही रह सकता। किर्केगार्द के विचारो मे दूसरा अन्तर्विरोध तब दीखता है जब वह ईश्वर के प्रति श्रद्धायुक्त पूर्ण समर्पण की वकालत करते हैं। यह तो ठीक है कि वह इसे व्यक्ति के स्वतन्त्र वरण से उपजता हुआ देखना चाहते हैं लेकिन ईश्वर के अस्तित्व का स्वीकार ही क्या मानवीय आचरण और वरण की दिशा निर्धारित नही कर देता ? यदि ईश्वर है तो उसके प्रति समर्पण के अतिरिक्त प्रामाणिक जीवन क्या हो सकता है ? मनुष्य की सारी सर्जनात्मकता की दिशा किसी अमूर्त चेतना की ओर नही, एक सजीव ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाती है। इससे धार्मिक जीवन का चाहे गुणात्मक उत्कर्ष होता हो, मनुष्य की वरण की स्वतन्त्रता की स्थिति तो आहत होती ही है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि किर्केगार्द ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा के विरुद्ध सघर्ष किया और किसी भी युक्तिमत्व के बरअक्स मूर्त मनुष्य की भावनाओ और अनुभूतियो को स्थापित करते हुए उसकी स्वतन्त्रता को रेखाकित किया।

परिवेश पर नियंत्रण का आग्रह : जेम्स और ड्युई

"तर्क और उपदेश कभी आश्वस्त नही करते,
रात की सीलन मेरी आत्मा मे गहरी उतरती जाती है"
अब मैं पुनरीक्षण करता हू सभी दर्शनो और धर्मों का।
ये सब अच्छे लगते हैं भाषण-कक्ष मे
लेकिन विशालकाय बादलों के बीच
और खुली जमीन और बहते प्रवाहों के साथ
अपने को सिद्ध नही कर पाते।"

अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमेन की इन पक्तियो मे ज्ञान-मीमासा और तत्त्व-मीमासा की उन सारी नयी पद्धतियो के प्रति असन्तोष मुखरित हुआ है जो पुनर्जागरण के बाद वैज्ञानिक शोधो के परिणामस्वरूप विकसित हुई थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद आर्थिक विकास की अपनी प्रक्रिया घटित हो रही थी और उससे मनुष्य के सम्मुख नयी सामाजिक राजनैतिक चुनौतियाप्रस्तुत हो रही थी और कुछ विचारको के अनुसार उनका व्यावहारिक समाधान सैद्धान्तिक मीमासा से अधिक प्रासगिक और जरूरी था—विशेष तौर पर इसलिए कि नयी मीमासा इन चुनौतियो का सामना करने मे मदद नही कर रही थी। विचारको के इस वर्ग मे विलियम जेम्स (1842-1910 ई०) अग्रणी थे। उनकी मान्यता थी कि हमारी आवश्यकताए तर्कों से निर्धारित नही होती बल्कि उनके आधार पर ही हम तर्क-पद्धति स्वीकार या अस्वीकार करते हैं। इसलिए दर्शन का काम ज्ञान-मीमासा या तत्त्व मीमासा नही बल्कि व्यावहारिक जीवन मे मनुष्य के सम्मुख चुनौतियो का सामना करने मे उसे सक्षम बनाना है। मनुष्य के तर्क उसकी मानसिक प्रवृत्ति और आवश्यकताओं के द्वारा निर्धारित होते हैं। अत: विभिन्न मनुष्यों और वर्गों की तर्क-प्रणालियो और उनके आधार पर विकसित होने वाली दर्शन-पद्धतियो में भेद अवश्यम्भावी है। इसीलिए किसी भी दर्शन प्रणाली को पूर्णतया निरपेक्ष नही कहा जा सकता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि निरपेक्ष न होने के कारण सभी दर्शन झूठे है। वे आंशिक तौर पर ही सच या झूठे हो सकते हैं। इसलिए किसी भी दर्शन की

सच्चाई उसकी तर्क-पद्धति के सुसगत होने या उसके सैद्धान्तिक निष्कर्षों के सदाशयी होने से नही आकी जा सकती। उसका व्यावहारिक रूप ही मनुष्य और समाज के लिए उसके वरेण्य का आधार बन सकता है। सभी दार्शनिक वस्तु-तत्त्व की प्रकृति और उसके मूल को जानना चाहते हैं जबकि विलियम जेम्स जैसे दार्शनिको की रुचि उत्पत्ति या प्रकृति म नही बल्कि परिणामो म है। विलियम जेम्स की इस मान्यता को व्यावहारिकतावाद—प्रेगमेटिज्म—कहा गया। स्वाभाविक या कि किसी एक तर्क-पद्धति और उसके निष्कर्षों को सम्पूर्ण जीवन पर लागू करने की बजाय व्यावहारिकतावाद का आग्रह सभी दर्शनो से उन बातो को स्वीकार कर लेने का है, जो व्यावहारिक जीवन मे मनुष्य की मदद करती है। स्पष्ट है कि सामाजिक, राजनैतिक प्रतिफलन के रूप मे किसी एक विचारधारा और कार्यक्रम को सार्वभौमिक मान लेने की बजाय यह प्रेगमेटिज्म देश-काल के अनुसार उपाय अपनाने पर बल देता है। इसीलिए प्रेगमेटिज्म और बहुलवाद दार्शनिक स्तर पर जुडवा भाई माने जा सकते हैं।

जिन दार्शनिको को विलियम जेम्स के साथ रखकर समझा जाना चाहिए उनम जॉन ड्युई (1859-1952 ई०) का नाम प्रमुख है। ड्युई को प्रकृतवादी कहा जा सकता है। लेकिन उनकी भी दर्शन से यही माग है कि उसे मीमासा होने की बजाय मनुष्य के व्यावहारिक जीवन म उसका सहायक होना चाहिए। ड्युई डार्विन के विचारो से बहुत अधिक प्रभावित रहे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य अपने परिवेश के साथ निरन्तर सघर्षरत है और इस सघर्ष मे वह तभी सफल हो सकता है, जब वह परिवेश पर नियन्त्रण की क्षमता रखता हो। ड्युई के अनुसार मनुष्य का दिमाग दुनिया का जानने का नही, बल्कि उसके व्यवहार का यन्त्र है। विचार के द्वारा मनुष्य अपने को पुन रूपान्तरित करता है ताकि वह परिवेश पर अपना नियन्त्रण कायम रख सके। इसलिए दर्शन ज्ञान के आधार पर मनुष्य के विचारो और व्यवहार का इस दृष्टि से रूपान्तरण करता है कि उनकी आकाक्षाओ की पूर्ति हो सके।

ड्युई के इन विचारो पर डार्विन के विकासवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उनके अनुसार मनुष्य की देह की ही तरह उसका मस्तिष्क भी अस्तित्व के लिए सघर्ष की प्रक्रिया मे विकसित होता गया है। इसलिए मनुष्य के विचारो और व्यवहार के औचित्य को उसके परिवेश के सन्दर्भ मे ही परखा जा सकता है। ड्युई ने इसीलिए अतिप्राकृतिक या भूतातीत व्याख्याओ को धर्म-शास्त्र के अन्तर्गत मानते हुए उन्ह दर्शन का दर्जा देना स्वीकार नही किया। वस्तुगत व्याख्या परिवेश मे किसी चीज के मुकाम और व्यवहार से तय होती है।

विकासवाद को स्वीकार करने का एक नतीजा यह भी हुआ कि ड्युई के

लिए किसी भी मूल्य को अन्तिम स्वीकार करना सम्भव नहीं रह गया। सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में भी सभी मूल्य और संस्थाएं 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' की अनवरत प्रक्रिया में एक विशेष स्थिति के सम्मुख विकसित होते हैं और उसमें परिवर्तन के साथ ही मूल्यों और उन्हें रूपायित करने के लिए विकसित संस्थाओं के स्वरूप में भी तदनुसार परिवर्तन जरूरी हो जाता है। इसीलिए अन्तिम 'सत्य' कुछ भी नहीं है, जिसके आधार पर मनुष्य के व्यवहार की सार्वकालिक और सार्वभौमिक कसौटी का निर्धारण किया जा सके।

और शायद यही कारण है कि ड्युई का राजनैतिक रुझान लोकतन्त्र की ओर है क्योंकि केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्था में ही किसी भी मान्यता को अन्तिम स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिए सभी को अपनी मान्यताओं का अभिव्यक्त करने और उनके अनुसार अहिंसक आचरण करने की छूट रहती है। तानाशाही या राजतन्त्र हिंसा पर आधारित है और हिंसा असहिष्णुता में पैदा होती है और उसे बढ़ावा देती है। असहिष्णुता वहीं होती है जहां अपनी मान्यता या स्वार्थ को अन्तिम मानकर सभी से अनिवार्यतः उसके अनुसार आचरण करने की आकांक्षा बलवती होती है। डार्विन के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी ड्युई का लोकतन्त्र की ओर रुझान कुछ अजीब लग सकता है, क्योंकि 'योग्यतम के अस्तित्व' के सिद्धांत के आधार पर डार्विन के विचारों का राजनैतिक प्रतिफलन अधिकांशतः तानाशाही, सैनिकवाद, अन्धराष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद के रूप में ही सामने आया है। लेकिन विकास क्रम में किसी भी स्थिति को अन्तिम नहीं माना जा सकता, क्योंकि विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है, साथ ही विज्ञान का विकास भी किसी निष्कर्ष और मान्यता को अन्तिम समझने के खतरे के प्रति लगातार सावधान करता है। अतः स्वाभाविक है कि मानवीय आचरण और संस्थाओं में भी विकास के इस सिद्धान्त को समझते हुए किसी भी विचार, कानून या मूल्य को अन्तिम न माना जाए। इसीलिए ड्युई राजतन्त्र या एकतन्त्र की बजाय लोकतन्त्र को और सत्ता के राज्य में केन्द्रीकरण की बजाय बहुलवादी व्यवस्था को वरीयता देते हैं। उनके मतानुसार मनुष्य का राजनैतिक विकास तभी सम्भव है।

एक शिक्षा-दार्शनिक के रूप में भी ड्युई का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विकासवाद को स्वीकार करने का तात्पर्य है मनुष्य को परिवेश के साथ निरंतर संघर्षरत मानना। इसलिए इस संघर्ष में सफल हो सकने के लिए मनुष्य को तैयार करना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य हो सकता है। लेकिन परिवेश और उसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध अनवरत और गतिशील है, अतः शिक्षा भी एक अनवरत और गतिशील प्रक्रिया होनी चाहिए—तभी वह परिवेश का नियन्त्रित कर सकने में मनुष्य को निरन्तर योग्य बनाये रख सकती है। इस

लिए शिकागो के शिक्षा स्कूल म ड्युई ने निरन्तर प्रयोग किए और उनके आधार पर बाद मे 'डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन' नामक पुस्तक भी लिखी। ड्युई की मान्यता है कि आज जिस बच्चे का शिक्षा दी जानी है, उसे कल के परिवेश की नयी चुनौतियो का सामना करना पडेगा—क्योकि परिवेश निरन्तर विकासशील है—और इन चुनौतियो स सघर्ष के माध्यम स ही मनुष्य का नया विकास सभव है। इसलिए यह आवश्यक है कि बालक की शिक्षा के लक्ष्यो और प्रक्रिया का निर्धारण कल के परिवेश की सम्भावित चुनौतियो के सन्दर्भ मे किया जाना चाहिए। इन चुनौतियो का स्वरूप और प्रक्रिया अलग अलग समाजो मे अलग-अलग होना स्वाभाविक है, अत शिक्षा का कोई सार्वभौमिक और सार्वकालिक मॉडेल भी तैयार नही किया जा सकता—उसम प्रयोगशीलता और परिवर्तन की गुजाइश बराबर बनी रहनी चाहिए। शिक्षा के क्षेत्र मे ये विचार क्रातिकारी महत्त्व रखते हैं क्योकि उनसे पहले शिक्षा की प्रक्रिया किसी भी समाज की रूढिबद्ध धारणाओ और अधिक से अधिक तात्कालिक आवश्यकताओ के आधार पर तय होती थी, इस अर्थ मे ड्युई क्रातिकारी शिक्षा-शास्त्री थे, जिन्होने न केवल कल की चुनौतियो के सन्दर्भ मे शिक्षा को तय करने पर बल दिया बल्कि यह माना कि स्कूल छोडने का तात्पर्य शिक्षा की प्रक्रिया का पूर्ण हो जाना नही है। शिक्षा एक अनवरत प्रक्रिया है क्योकि विकास एक अनवरत प्रक्रिया है।

इसलिए यह भी स्वाभाविक लगता है कि ड्युई न केवल शास्त्रीय या सैद्धातिक या किताबी शिक्षा की बजाय व्यवहारपरक शिक्षा पर अधिक जोर दिया क्योकि तभी शिक्षार्थी परिवेश की चुनौतियो का सामना करने मे अधिक समर्थ हो सकता है। इसीलिए उन्होंने विज्ञान की शिक्षा को तो प्राथमिकता दी ही पर उसक भी किताबी या सैद्धातिक ज्ञान पर व्यवहारमूलक ज्ञान को वरीयता दी। साफ है कि स्कूल को एक छोटे-मोटे वर्कशाप की तरह काम करना चाहिए, ताकि समाज की आवश्यकताओ और प्रक्रिया मे शिक्षार्थी का प्रशिक्षण हो सके और स्कूल छोडने के बाद वह अपनी जानकारी और अनुभवो को बढाता रह सके।

विलियम जेम्स और जॉन ड्युई दोनो की विशेषता यह है कि उन्होने अपने परिवेश की व्यावहारिक समझ और उसके नियन्त्रण की आवश्यकता की ओर दार्शनिको का ध्यान आकर्षित किया। लेकिन ज्ञान की प्रक्रिया, तत्त्व मीमासा और मूल्य मीमासा की ओर उनकी उपेक्षा के कारण मनुष्य के अस्तित्व से सम्बन्धित गहरी जिज्ञासाओ का कोई उत्तर उन्होंने नही दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि ये विचार-दर्शन के बुनियादी सवालो से जूझने और मनुष्य के मन की गहराइयो, उलझनो और आकाक्षाओ को समझने की बजाय उसकी स्थूल आवश्यकताओ तक ही सीमित रहे। इसलिए उनकी उपयोगिता जितनी स्पष्ट है, उनकी सीमाए भी उतनी ही उजागर हैं।

सौन्दर्य की तलाश : क्रोचे

सुन्दर ही सत्य है और सत्य सुन्दर
यही कुल जानना है
और इतना जान लेना ही काफी है
इस धरती पर।

कीट्स की इन पंक्तियों को एक रोमांटिक कवि का भावोच्छ्वास मात्र कहकर नहीं टाला जा सकता। मानवीय चेतना केवल तर्काश्रित विचार नहीं है, वह अनुभूति भी है। पुनर्जागरण में सम्पूर्ण मनुष्य पर आग्रह था—केवल उसकी तर्कबुद्धि पर ही नहीं। लेकिन विज्ञान के विकास के कारण दर्शन का अधिकाधिक रुझान तर्क की ओर ही होता चला गया और तर्क से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वह अधिकाधिक विज्ञान सम्मत हो। इस प्रक्रिया में मनुष्य की सहज अनुभूति या तो उपेक्षित हुई या उसे तर्क की प्राथमिकता को स्वीकार करना पड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि ज्ञान-मीमांसा की एक पद्धति के रूप में अनुभूति का स्थान न केवल गौण हो गया बल्कि उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो गई। देकार्त से लेकर मार्क्स तक विकसित सभी दार्शनिक धाराओं में तर्क की यह प्रधानता देखी जा सकती है।

सम्भवतः इस अत्यधिक तर्काश्रय और वैज्ञानिकता के दबाव की यह एक प्रतिक्रिया ही थी कि उन्नीसवीं शती के अन्तिम दिनों में ही सहज मानवीय अनुभूति का आग्रह प्रबल होने लगा और बहुत से दार्शनिकों ने तर्क की बजाय अनुभूति पक्ष को अपनी ज्ञान-मीमांसा में केन्द्रीय महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया। कीर्केगार्द और बर्गसां दोनों में इसी अनुभूति-पक्ष पर अधिक आग्रह है, यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण बिल्कुल अलग हैं।

अपनी ज्ञान-मीमांसा में अनुभूति को केन्द्रीय महत्त्व देने वाले आधुनिक दार्शनिकों में इटली के बेनेदेत्तो क्रोचे (1866-1952) का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्रोचे की मान्यता है कि ज्ञान की प्रक्रिया में तर्क या विचार न केवल अनुभूति के बाद है, बल्कि उसके माध्यम से प्राप्त ज्ञान सत्य का अपरोक्ष

अनुभूति की तरह नहीं, बल्कि युक्ति-सत्य की तरह प्रस्तुत करता है। ज्ञान का मुख्य स्रोत विशुद्ध संवेदन—इस्थेसिस—की रचनात्मक प्रक्रिया है। संवेदन-तन्त्र के माध्यम से हमारा मन जो कुछ ग्रहण करता है उसकी ग्रहण-प्रक्रिया मे ही वह ग्राह्य को बिम्ब के रूप मे रूपान्तरित कर देता है। दूसरे शब्दो मे, संवेदन-तन्त्र के माध्यम से ज्ञान अनिवार्यतः बिम्बात्मक होता है और यह बिम्ब-रचना मन की सहज प्रवृत्ति है, जो संवेदना पर पड़ने वाले प्रभावो के साथ-साथ चलती है। क्रोचे के अनुसार इस प्रकार बिम्ब-रचना ज्ञान-मीमासा की प्रक्रिया मे प्राथमिक महत्त्व प्राप्त कर लेती है। इस बिम्ब-रचना की अनुभूति ही वास्तविक अनुभूति है, जिसे क्रोचे 'सौन्दर्यानुभूति' कहते हैं क्योकि इसमे रचनात्मकता का भाव बराबर मौजूद रहता है। इसीलिए क्रोचे की राय मे सामान्य व्यक्ति की अनुभूति और कलाकार या रचनाकार की अनुभूति मे कोई तात्त्विक या गुणात्मक अन्तर नही है—यह अन्तर सिर्फ तीव्रता और स्पष्टता का यानी मात्रात्मक है। अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'इस्थेटिक' मे क्रोचे ने इस विचार की विशद व्याख्या की है। दर्शन के एक इतिहासकार का कहना है कि क्रोचे के इस विचार मे काट और बामगार्टन के सौन्दर्य-तत्त्व सम्बन्धी विचारो का सार्थक समन्वय प्राप्त होता है। काट ने 'इस्थेटिक' या 'सौन्दर्यानुभूति' पद का प्रयोग ज्ञान-मीमासा के क्षेत्र मे संवेदनात्मक प्रक्रिया के अर्थ मे किया था, जबकि बामगार्टन ने इस पद का प्रयोग 'सौन्दर्य के दार्शनिक सिद्धान्त' के अर्थ मे किया। हम देखते हैं कि क्रोचे इन दोनो अर्थों को न केवल इसी एक पद के माध्यम से व्यक्त करते हैं, बल्कि इस तरह इनका समन्वय कर देते हैं कि वे अविभाज्य लगें।

इसीलिए क्रोचे के दर्शन को अभिव्यंजनावाद—इक्सप्रेशनिज्म—कहा जाता है। 'अभिव्यंजना' या इक्सप्रेशन' शब्द पर आधारित होने के कारण क्रोचे के मूल मन्तव्य को समझे बिना ही अधिकांश जन यह मान लेते हैं कि कला-रचना के क्षेत्र मे क्रोचे का आग्रह अनुभूति की बजाय अभिव्यक्ति पक्ष—इक्सप्रेशन पर अधिक है। इसलिए क्रोचे के मन्तव्य को ठीक तरह से समझना आवश्यक है।

पहली बात तो यह कि क्रोचे अभिव्यंजना और रचना मे फर्क नही करते। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि ज्ञान-प्रक्रिया मे बिम्ब-रचना अत्यन्त अनिवार्य है और इस बिम्ब-रचना के माध्यम से ही ज्ञान अपनी अभिव्यंजना करता है। इसीलिए वास्तविक ज्ञान अनिवार्यतः अनुभूतिपरक और रचनात्मक है और इसलिए सौन्दर्यानुभूति—रचनात्मक अनुभूति—ही वास्तविक ज्ञान है। क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धान्त मे इसलिए अनुभूति और अभिव्यक्ति मे फर्क नही किया गया है क्योकि अभिव्यंजना और रचना की प्रक्रिया एक है और रचना की प्रक्रिया ही अनुभूति की प्रक्रिया है। इस रचना की प्रक्रिया का वाणी या रंगो आदि के माध्यम से प्रकट होना तो केवल इसका बाह्यीकरण है—अभिव्यंजना की प्रक्रिया

तो मन में पूरी हो चुकी होती है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कलाकार माइकेल एंजेलो का कथन स्मरणीय है: 'चित्र-रचना हाथों से नहीं बल्कि मन में होती है।' इसी लिए क्रोचे मानते हैं कि सामान्य व्यक्ति और कलाकार में संवेदनात्मक तीव्रता और स्पष्टता का ही फर्क है—शब्द या रंग आदि का ज्ञान वह तकनीक है, जिससे यह स्पष्टता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति में एक कलाकार छुपा बैठा है, जो उपयुक्त प्रशिक्षण के माध्यम से प्रकट हो सकता है। इसीलिए क्रोचे का अभिव्यंजनावाद केवल कला-रचना का सिद्धान्त नहीं, अपने-आप में एक ज्ञान मीमांसा है।

इस अभिव्यंजनावादी आग्रह के कारण ही क्रोचे ज्ञान की सार्वभौमिकता—क्योंकि वह युक्तिसत्य है—की बजाय उसके वैयक्तिकीकरण पर बल देते हैं। तर्क का स्थान द्वितीय स्तर पर है, जिसका तात्पर्य यही है कि 'तर्क' के माध्यम से हम विचार या चीजों के आपसी रिश्तों के नियमों का तो ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं लेकिन किसी भी चीज का अनुभव या प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। किसी भी चीज का वास्तविक ज्ञान हमारी चेतना में उसका बिम्बात्मक अनुभव है और यह तर्क से नहीं सहज-प्रज्ञा (इनट्यूइशन) और कल्पना (इमेजिनेशन) के माध्यम से ही सम्भव है।

क्रोचे अपनी ज्ञान-मीमांसा में तर्क को स्थान तो देते हैं, लेकिन एक नयी परिभाषा के साथ। वह अमूर्तता का विरोध करते हुए तर्क की तीन विशेषताएं निर्धारित करते हैं। सार्वभौमिकता, अभिव्यंजना और मूर्तता। तर्क से विचार उत्पन्न होता है लेकिन यह विचार उसी प्रकार मन की तर्क-प्रक्रिया की अभिव्यंजना है, जिस प्रकार बिम्ब मन की संवेदन-प्रक्रिया की अभिव्यंजना होता है। यह विचार अमूर्त नहीं है क्योंकि यह मूर्त अनुभव का घटक है। लेकिन विज्ञान क्रोचे के अनुसार, तर्क-प्रक्रिया को अमूर्तता की ओर ले जाता है और इसीलिए उसकी प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान की प्रामाणिकता सापेक्ष ही रहती है, सार्वदेशकालिक नहीं।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रोचे का आग्रह विज्ञान की बजाय कला (साहित्य को सम्मिलित करते हुए) पर अधिक होता। शिक्षा ज्ञान-प्रक्रिया की दीक्षा है, अतः इस प्रक्रिया में भी कला को सर्वाधिक महत्व दिया जाना जरूरी है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान के अनुभूतिमूलक होने के कारण शिक्षा के माध्यम से उस तक पहुंचने का सर्वाधिक प्रभावी रास्ता कला का रास्ता ही हो सकता है। विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में भी अमूर्त सिद्धान्तों के ज्ञान की बजाय व्यावहारिक प्रशिक्षण पर ही अधिक आग्रह होना चाहिए क्योंकि वह मूर्त और अनुभूतिपरक हो सकता है। इतिहास के बारे में भी क्रोचे इसीलिए अलग ढंग से विचार करते थे। उनकी मान्यता के अनुसार इतिहास मृत अतीत का यथातथ्य

वर्णन नही है—उसका यथातथ्य होना सम्भव भी नही है—बल्कि वह वर्तमान रचनात्मक प्रक्रिया का ऐतिहासिक बोध है। दूसरे शब्दो मे, इतिहास को वर्तमान के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है, उसके पीछे किसी सार्वभौम योजना की तलाश व्यर्थ है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इतिहास भी एक मूर्त अनुभव हो जाता है, किसी अमूर्त सिद्धान्त की व्याख्या या उदाहरण नही।

क्रोचे का अभिव्यजना सिद्धात कला की ही नही, मनुष्य के व्यवहार-जगत की भी व्याख्या करता है। मन के व्यावहारिक पक्ष के दो एकमेक पहलू हैं : इच्छा और कर्म। प्रत्येक कर्म किसी इच्छा की अभिव्यजना है क्योकि जिस कर्म के पीछे इच्छा नही है वह केवल यात्रिक है, वास्तविक कर्म नही। लेकिन इच्छा स्वय ज्ञान की अभिव्यजना है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा और कर्म—तीनो को अभिव्यजना सिद्धात के आधार पर समझा जा सकता है।

क्रोचे के इस अभिव्यजना सिद्धात मे उद्भावना और व्याख्या की मौलिकता को स्वीकार करते हुए भी उस पर पर्याप्त आपत्तिया की जा सकती हैं। वह ज्ञान-मीमासा मे गणितीय या अमूर्त सिद्धान्तो की उपेक्षा करता है, जिसका सीधा तात्पर्य यह है कि वह सृष्टि की प्रक्रिया और उसके विभिन्न अगो के बीच के रिश्ते निर्धारित करने वाले नियमो की पहचान नही कर सकता। मूर्त ज्ञान का अपना महत्त्व है, लेकिन इससे अमूर्त ज्ञान झूठा नही हो जाता। इस पूर्वाग्रह के कारण आइन्स्टाइन जैसे वैज्ञानिक के गणितीय सिद्धान्त भी क्रोचे की नजर मे महत्त्वपूर्ण नही रह जाते, जबकि उन अमूर्त सिद्धान्तो के आधार पर समूची दुनिया के मूर्त दृश्य मे परिवर्तन किया जा सकता है। कला के क्षेत्र मे भी सामान्य व्यक्ति और कलाकार के बीच गुणात्मक अन्तर न कर पाने के कारण यह समझना मुश्किल हो जाता है कि माध्यम का कला-रचना पर क्या गुणात्मक प्रभाव पड़ता है।

फिर भी क्रोचे का महत्त्व इस बात मे है कि उन्होने ज्ञान-मीमासा मे अनुभूति के महत्त्व को न केवल पुन. रेखाकित किया, बल्कि अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की एकात्मता को उजागर किया। अभिव्यजना ही रचना है, यह सिद्धात बिम्बानुभूति की प्रक्रिया मे ही रचना को, ज्ञान को निहित मानता है। पॉल वैलेरी का कथन इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है कि किसी कलाकार का दर्शन "सोच के विषय मे नही, बल्कि स्वय सोच की प्रक्रिया और उसके व्यवहार मे निहित होता है।" क्रोचे का महत्त्व एक ऐसे दार्शनिक के रूप मे है, जिसने तत्त्व-चिन्तन मे सौन्दर्य दृष्टि को केन्द्रीय महत्त्व दिया, जबकि अधिकाश दार्शनिक तत्त्व-मीमासा के आधार पर सौन्दर्य-बोध की व्याख्या करते है। इसलिए यह अकारण नही है कि कला-जगत पर—और कला भी ज्ञान की एक स्वायत्त प्रक्रिया है—क्रोचे के सिद्धान्तो का उल्लेखनीय असर पड़ा।

प्रामाणिक जीवन का आग्रह : सार्त्र

बीसवीं शताब्दी में जो दार्शनिक बौद्धिक बहसों के केन्द्र में रहे हैं उनमें ज्यां पाल सार्त्र (1905-1980 ई०) सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। अस्तित्ववाद का प्रवर्तक कीर्केगार्द को माना जाता है तथा हुसरल और मार्टिन हाइडेगर को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने उसकी ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्व-मीमांसा का आधार प्रस्तुत किया, लेकिन दर्शन के सामान्य अध्येता के लिए तो सार्त्र और अस्तित्ववाद पर्यायवाची-जैसे हो गये हैं। अस्तित्ववाद में कई शाखाएं हैं जिनमें आस्तिक या ईसाई अस्तित्ववाद तथा वैज्ञानिक अस्तित्ववाद सार्त्र के नास्तिक अस्तित्ववाद से बिलकुल भिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख हैं लेकिन जब भी एक दार्शनिक प्रणाली के रूप में अस्तित्ववाद की बात होती है तो उसके प्रतिनिधि विचारक के रूप में सार्त्र को ही स्वीकार किया जाता है।

दर्शन के सभी सम्प्रदायों को अमूमन यथार्थवाद या भौतिकवाद और प्रत्ययवाद के अन्तर्गत वर्गीकृत कर देखा जा सकता है, लेकिन अस्तित्ववाद इन दोनों खांचों में फिट नहीं बैठता। भौतिकवाद चेतना को पदार्थ द्वारा निर्धारित मानता है तो प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) चेतना को पदार्थनिरपेक्ष स्वीकार करता है। सार्त्र अपने ग्रन्थ 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' में हुसरल की मान्यताओं को विकसित करते हुए अपनी मौलिक अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं। सार्त्र एक ओर पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी चेतना की स्वतन्त्रता को मानते हैं तो दूसरी ओर ईश्वर या ऐसी ही किसी परम चेतना का निषेध भी करते हैं। भौतिकवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा मनुष्य को परिभाषित करने की कोशिश की गई है, लेकिन अस्तित्ववाद मनुष्य की परिभाषा नहीं करता, केवल उसकी स्थिति का विश्लेषण करता है। इसी कारण दर्शन के अधिकांश इतिहासकार अस्तित्ववाद को 'अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद दोनों के विरुद्ध व्यक्ति के महत्त्व की घोषणा' मानते हैं।

हुसरल की 'फिनॉमिनालॉजी' को आधार के रूप में स्वीकार करते हुए सार्त्र भी यह मानते हैं कि चेतना सदैव किसी-न-किसी की चेतना होती है—

किसी व्यक्ति की या किसी वस्तु की, यानी किसी ऐसे अस्तित्व की जो पहले से है और चेतना जिसके सम्पर्क मे आती है। इसी कारण सार्त्र मानते हैं कि जब चेतना का विषय कोई व्यक्ति होता है तो वह व्यक्ति अपने आप मे 'विषयी' होते हुए भी दूसरे की चेतना का विषय हो जाता है और इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता बाधित होती है। इसी कारण सार्त्र का अस्तित्ववाद 'अन्य नरक है', की घोषणा करता है क्योंकि यह 'अन्य' हमेशा हमारी स्वतन्त्रता को बाधित करता है।

लेकिन किसी 'वस्तु या व्यक्ति की चेतना' होना चेतना का एक स्तर ही है जिसे सार्त्र ने 'सत्ता अपने में' कहा है। चेतना का दूसरा स्तर है 'सत्ता अपने लिए', जिसका तात्पर्य है अपनी चेतना के प्रति सचेत होना। दूसरे शब्दों में 'सत्ता अपने में' (En-Soi) के स्तर पर चेतना तो है पर वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व स अनभिज्ञ किसी विषय की चेतना ही है। 'चेतना अपने लिए' (Por-Soi) के स्तर पर विषय की चेतना होते हुए भी यह भाव विकसित हो जाता है कि वह विषय से भिन्न है। 'मैं वृक्ष को देखता हूं' मे विषय की चेतना है तो मैं जानता हू कि 'मैं वृक्ष को देख रहा हूं' म चेतना म विषय के ज्ञान के साथ-साथ चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व का भी अनुभव है। सार्त्र इस आत्म-चेतना को ही प्रामाणिक मानते हैं। लेकिन इस आत्म-चेतना की सीमा यह है कि यह भिन्न होते हुए भी वस्तु या विषय से निरन्तर बाधित रहती है। यह विषय से अलग है पर विषय पर आधारित भी।

लेकिन यदि हम यह मान लेते हैं कि चेतना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है तो साथ ही यह भी मानना होगा कि इसकी स्वतन्त्रता अपने को उस तरह विकसित करने मे है जिस तरह वह स्वय चाहती है। दूसरे शब्दो मे हम किसी पूर्व आदर्श, सिद्धान्त या परिभाषा को उस पर आरोपित नही कर सकते। इसीलिए सार्त्र का प्रसिद्ध वाक्य है—'अस्तित्व सार तत्त्व से पहले है'—'एक्जिस्टेंस प्रीसीड्स इसेंस।' इसी कारण इस दार्शनिक सम्प्रदाय को 'एक्जिस्टेंशियलिज्म' या 'अस्तित्ववाद' कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी पूर्व सत्ता (परम चेतना, ईश्वर आदि) या 'पूर्व विचार' (कोई भी आदर्श या सिद्धान्त या मूल प्रकृति) मनुष्य के आचरण की कसौटी नही हो सकती। मनुष्य वही है जो वह अपने को बनाता है।

इस विचार को गलत समझ लेने के ही कारण कई लोग अस्तित्ववाद को मूल्यहीनता का दर्शन मान बैठते हैं। उनका तर्क यही होता है कि जब किसी भी पूर्व-निर्धारित मूल्य या आदर्श की कसौटी पर मनुष्य के आचरण को नही मापा जा सकता तो निश्चय ही वह मूल्यहीनता की ओर ही उन्मुख होता है। लेकिन सार्त्र पूर्व-निर्धारित मूल्यों का विरोध करता है, मूल्यों का नहीं। जब

वह मानता है कि मनुष्य अपने को स्वयं बनाता है तो उसका अर्थ यही है कि वह अपने लिए स्वयं मूल्यों का सर्जन करता है। किसी भी सार-तत्त्व या कसौटी को अस्वीकार करने का तात्पर्य है कि वह प्रत्येक अवसर पर अपने लिए चुनाव करता है क्योंकि कोई ऐसी पूर्व निर्धारित कसौटी नहीं है जो उसके लिए चुनाव कर दे। वरण या चुनाव मनुष्य की विवशता है—'मनुष्य वरण करने के लिए अभिशप्त है।' लेकिन सार्त्र के अनुसार जब मनुष्य बहुत से विकल्पों में से अपने लिए एक विकल्प को चुनता है तो वह वास्तव में अपने लिए किसी न किसी मूल्य का चुनाव कर रहा होता है। वह अपने चुनाव के लिए उत्तरदायी होता है, इसीलिए उसके सम्भावित बुरे परिणामों से भागने की कोशिश अप्रामाणिक होगी। उसे अपने चुनाव के परिणामों की तकलीफ भोगनी होगी। इस तकलीफ में ही इस बात का प्रमाण है कि वह चुनने के लिए स्वतन्त्र है। स्पष्ट है कि पूर्व निर्धारित आदर्शों के अभाव में वरण की यह स्वतन्त्रता कोई सुविधा नहीं बल्कि एक गुरुतर दायित्व है क्योंकि वह अपने चुनाव की जिम्मेदारी किसी सामाजिक रीति रिवाज, परम्परा या सार्वजनिक मान्यता पर डालकर अलग नहीं हो सकता।

जाहिर है कि यह चुनाव कोई सरल काम नहीं है। इसलिए कई दफा ऐसी भी परिस्थितियाँ आती हैं जब हम चुनाव से बचना चाहते हैं या उसे टालते जाते हैं। लेकिन बचना या टालना अपने में एक विकल्प का चुनाव है, अतः कभी न कभी उसके परिणाम भी हम भुगतते होते हैं और उसकी जिम्मेदारी भी हमारी होती है। चुनाव की प्रक्रिया इसीलिए यन्त्रणादायक है क्योंकि उसका कोई पूर्व मापदण्ड हमारे पास नहीं होता जिसके आधार से हम उसे लेकर निरन्तर एक अन्तर्द्वन्द्व या संघर्ष में रहते हैं। इसी को सार्त्र ने परिताप—एंग्विश कहा है। चुनाव से इनकार करना या बचना चाहना अपनी स्वतन्त्रता से इनकार करना और अपने को वस्तुमात्र—'सत्ता-अपने में' या 'बीइंग इन इटसेल्फ' (En-Soi) बना देना है। इसे सार्त्र ने 'अपश्रद्धा'—'बैड फेथ' कहा है। इस प्रकार सार्त्र की मान्यता के अनुसार अपनी स्वतन्त्रता का निरन्तर प्रयोग ही हमारे जीवन को प्रामाणिक बनाता है। इस निरन्तर प्रयोग में हम प्रतिक्षण अपने होने का प्रामाणिक अनुभव करते हैं। हम प्रतिक्षण 'हो रहे' होते हैं जिसे अस्तित्ववादी शब्दावली में 'बिकमिंग' कहा गया है। चुनाव की इस प्रक्रिया में यदि हम 'अन्य' को 'सत्ता-अपने में' अर्थात् विषय मानकर चलते हैं तो इससे घृणा की भावना का अनुभव करते हैं और यदि हम उसे भी 'सत्ता अपने लिए' अर्थात् विषयी की तरह अनुभव करते हैं तो इससे प्रेम का उद्भव होता है। दूसरे शब्दों में, दूसरे की स्वतन्त्रता का सम्मान प्रेम की ओर ले जाता है जबकि उसे केवल विषय या वस्तुमात्र मानना घृणा की ओर।

इस व्याख्या के अनुसार न तो ब्रह्माड का कोई पूर्व-निर्धारित प्रयोजन है न ही मनुष्य के जीवन का। मनुष्य स्वतन्त्र है और अपनी स्वतन्त्रता के उपयोग द्वारा वह अपनी इच्छानुसार अपने भविष्य का निर्माण करता है। अपनी स्वतन्त्रता मे ही वह अपने प्रयोजन की सृष्टि करता है। यह सवाल उठ सकता है कि यदि कोई पूर्व-निर्धारित मूल्य नही है तो वरण का आधार क्या है? क्यो कई विकल्पो मे से हम किसी एक विकल्प को वरेण्य मानते है? चेतना मे वह क्या तत्त्व है जो हमे किसी एक विकल्प के चुनाव के लिए प्रेरित करता है? सार्त्र की मान्यता के अनुसार यह चुनाव सहजबोध या 'इनट्यूशन' के आधार पर होता है।

सार्त्र की इन मान्यताओ के आधार पर एक शिक्षा-दर्शन विकसित करने की कोशिश की जा सकती है। लेकिन तब शिक्षा का उद्देश्य यही हो सकता है कि वह किन्ही विशेष मूल्यो की ओर बालक को प्रवृत्त करने की बजाय उसमे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना का विकास करे ताकि वह अपश्रद्धा से बचता हुआ अपने वरण-स्वातन्त्र्य मे अपने 'हो रहे होने' का प्रामाणिक अनुभव कर सके।

इसमे कोई सन्देह नही कि सार्त्र के इन विचारो ने समूची दुनिया के बौद्धिक वर्ग को आकर्षित किया और मनुष्य की स्वतन्त्रता को एक ऐसे युग मे पुन. प्रतिष्ठित किया जब उसे राज्य, यन्त्र और भीड से कुचला जा रहा है। लेकिन सार्त्र की दार्शनिक पद्धति मे कुछ ऐसे अन्तर्विरोध भी हैं जो उसकी मान्यताओ पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हैं। यदि हम स्वातन्त्र्य को मानवीय आचरण की कसौटी मान लेते हैं और उससे बचना चाहने को 'बैड फेथ' कहते हैं तो जाहिर है कि हम एक मूल्य मनुष्य पर थोपा कर देते हैं। 'मनुष्य वरण करने को अभिशप्त है'—यहा तक तो फिर भी ठीक है लेकिन जब हम कहते हैं कि उसे अपने 'वरण' के परिणामो से बचने की कोशिश नही करनी चाहिए तो प्रकारान्तर से हम उसमे एक ऐसे नैतिक आचरण को देखना चाहते हैं जिसकी अपेक्षा हमें मनुष्य मात्र से है। इसी प्रकार जब हम मान लेते हैं कि 'वरण' की कोई पूर्व-निर्धारित कसौटी नही है और उसका आधार 'इनट्यूशन' है तो उसके परिणामो के लिए व्यक्ति को उत्तरदायी मानना कहा तक न्यायसगत है? 'व्यक्ति' वही है जो अपने को बनाता है, इस सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि सचेत रूप से ऐसा करता है। लेकिन यदि इसका आधार केवल 'इनट्यूशन' है तो उसकी जिम्मेदारी सम्पूर्ण रूप से व्यक्ति पर नही डाली जा सकती। हा, वरण के लिए कोई मार्गदर्शन न होने के बावजूद 'मनुष्य वरण करने के लिए अभिशप्त' है, यह उसमे तीव्र परिताप का कारण है और मनुष्य की इस परिस्थिति का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण जहा सार्त्र के दार्शनिक ग्रन्थों मे

प्राप्त होता है वही इसकी कलात्मक एवं प्रभावी प्रस्तुति उनकी साहित्यिक रचनाओं में प्राप्त होती है।

यह द्रष्टव्य है कि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में सार्त्र का झुकाव काफी हद तक मार्क्सवाद की ओर हो गया था और वे उसमें मानवीय स्वतन्त्रता की सम्भावनाएं देखने लगे थे किन्तु मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया एवं अन्य बहुत-सी मान्यताओं से उनकी असहमति रही और इसी कारण औपचारिक मार्क्सवादियों ने उनके विचारों को स्वीकार नहीं किया।

II

महायुद्धोत्तर काल में विश्व भर के लेखकों, बौद्धिकों में सर्वाधिक विवादास्पद और साथ ही साथ प्रभावशाली व्यक्तित्व की तलाश करनी हो तो सभी निगाहें ज्यां पाल सार्त्र पर ही जा अटकने के लिए विवश हो जाती हैं। समकालीन लेखकों विचारकों के लिए ही नहीं आलोचनात्मक रुझान वाले सक्रिय क्रान्ति-धर्मी राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के लिए भी सार्त्र दुर्निवार आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। इसका सर्वप्रमुख कारण यही नजर आता है कि केवल एक रूक्ष विचारक की हैसियत से नहीं, बल्कि एक संवेदनशील कलाकार और संघर्षशील कार्यकर्त्ता के रूप में भी मनुष्य की मुक्ति की जद्दोजहद में अपने को शरीक करते हैं। उनका यह जुड़ाव केवल सहानुभूतिजन्य नहीं है—सहानुभूतिजन्य जुड़ाव में खोखले दम्भ का खतरा हमेशा बना रहता है—बल्कि मानवीय अस्तित्व और इतिहास की उनकी समझ से फूटती हुई एक ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसके घटित होने में ही सार्त्र दर्शन के अनुसार व्यक्ति मनुष्य के—और इसलिए सार्त्र के भी—जीवन की सार्थकता है। सार्त्र की दृष्टि में मानव मुक्ति का यह संघर्ष वैयक्तिक भी है और सामूहिक भी। इसी दृष्टिकोण के कारण सार्त्र कई बार अन्तर्विरोधपूर्ण लगते हैं। दर्शन की विभिन्न सरणियां आध्यात्मिक नैतिक स्तर से लेकर आर्थिक-राजनैतिक स्तर तक या तो व्यक्ति को केन्द्र में रखती हैं या समूह को। सार्त्र इन दोनों को एक साथ केन्द्र में रखना चाहते हैं, इसी कारण अन्तर्विरोधपूर्ण व विवादास्पद लगने लग जाते हैं क्योंकि 'व्यक्ति बनाम समाज' की दृष्टि वाली अतिवादी पश्चिमी समझ इस दृष्टि की तार्किक परिणति की संगति को नहीं देख पाती। मुझे लगता है कि नास्तिक होते हुए भी सार्त्र की यह एप्रोच गहरे मनोवैज्ञानिक स्तरों पर ईसाई धर्म की इस बुनियादी संकल्पना से प्रभावित है कि मुक्ति के लिए वैयक्तिक प्रयासों की सारी वाछनीयता के बावजूद मुक्ति समूह के साथ ही सम्भव है, अकेले में नहीं। लगता है कि महायान बौद्धधर्म से प्रभावित देशों में साम्यवादी विचारों के प्रति आकर्षण में भी यही कारण कहीं न

की उत्तरदायी है क्योंकि महायानी दृष्टि भी समूह की मुक्ति के लिए स्वयं बुद्ध की पूर्ण मुक्ति को अन्तिम छलांग पर रोक देती है।

महायुद्धोत्तर काल के आसपास एक विचारक के रूप में सार्त्र का प्रमुख लगाव व्यक्ति-मनुष्य की मुक्ति रहा। पश्चिमी समाज पर युद्ध की आशंका और बाद में युद्ध के विनाशकारी परिणाम तथा सामूहिक संस्थाओं के खोखलेपन से व्याप्त निराशा के वातावरण में वैयक्तिक मुक्ति का आग्रह अस्वाभाविक नहीं था—और जैसा कि संवेदनशील युवा विचारकों के साथ स्वाभाविक है, यह आग्रह सार्त्र के साथ भी अतिवादी रहा। अपने इसी लगाव और अतिवादी आग्रह के कारण सार्त्र अस्तित्ववाद की ओर उन्मुख हुए। अस्तित्ववाद एक ऐसी चिन्तन-धारा है, जो मनुष्य पर किसी तरह की पूर्वनिर्धारित परिभाषा थोपने की बजाय उसे पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ देती है। यह विचारधारा एक ठोस यथार्थ के रूप में मनुष्य के अस्तित्व की अनुभूति को प्राथमिकता देती है। 'अस्तित्व सार या विचार से पहले है' का वास्तविक अर्थ यही है। इस धारणा में सार्त्र को मनुष्य की मुक्ति की बड़ी सम्भावनाएं नजर आई तो इसका कारण यही रहा कि उन्हें लगा कि यह विचारधारा मनुष्य की मुक्ति के नाम पर उस किसी नये पूर्वनिर्धारित रास्ते पर नहीं डालती, बल्कि उसकी स्वतन्त्रता का पूर्ण सम्मान करती है। कुछ लोगों ने इस अस्तित्ववादी धारणा को सुविधा समझा, जब कि स्वयं सार्त्र ने बार-बार इस विचार को दोहराया कि मनुष्य की यह स्वतन्त्रता—जिसे अस्तित्ववादी पारिभाषिक शब्दावली में 'वरण की स्वतन्त्रता' कहा गया—सुविधा नहीं, एक गम्भीर नैतिक उत्तरदायित्व है और इसीलिए वरण के अधिकार के प्रयोग का साध्य वह कष्ट है, जो उसके परिणामों की वजह से भोगना है। इस कष्ट से बचने की कोशिश करते हुए वरण की स्वतन्त्रता का उपभोग करने की कोशिश करना सुविधावादी अवसरवाद है, जिसका दार्शनिक स्तर पर अस्तित्ववाद से कोई जुड़ाव नहीं हो सकता। कष्टसहन वरण-स्वातन्त्र्य की कसौटी है। न जाने क्यों मुझे फिर इस स्थल पर ईसा की याद आ जाती है।

प्रारम्भिक सार्त्र में व्यक्तिवादिता का यह आग्रह कुछ अतिवादी है और यही कारण है कि 'स्व' के अतिरिक्त सारा अस्तित्व उन्हें स्वतन्त्रता का बाधक लगने लगता है। इसी प्रवृत्ति की वजह से 'अन्य नरक है'—The other is hell—की धारणा विकसित होती नजर आती है। लेकिन अधकचरे और फैशनपरस्त लेखकों पर सर्वाधिक प्रभाव डालते हुए भी यह धारणा स्वयं सार्त्र के चिन्तन में अधिक समय तक केन्द्रीय स्थान पर आसीन नहीं रहती। सार्त्र की मूल चिन्ता अस्तित्व की प्रामाणिक अनुभूति है। अपने विश्व प्रसिद्ध किन्तु वास्तव में अल्प-पठित—विचारों में अधिक भाषा की क्लिष्टता के कारण—ग्रंथ 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' की सारी प्रस्थापनाएं 'न कुछ' के सम्मुख मनुष्य के अस्तित्व की

प्रामाणिकता को सिद्ध कर सकने के दार्शनिक प्रयास हैं। अपने उपन्यासों और नाटकों में अनुभूत्यात्मक स्तर इसी 'न कुछ' के आतंक के सम्मुख अस्तित्व की छटपटाहट और इसी तरह का सजीव वर्णन सार्त्र ने किया है। "मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है, इसलिए अस्तित्व का मुख्य अर्थ है स्वतन्त्रता। "मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूं, बल्कि एक स्वतन्त्र व्यक्ति हूं, जो मरता है।"

यह दुर्भाग्यपूर्ण और अस्वाभाविक होता यदि स्वतन्त्रता का निजी उपभोग मात्र ही सार्त्र-जैसे विचारक की सीमा बन जाता। यदि अस्तित्व का अर्थ ही स्वतन्त्रता है तो इसका विस्तार 'स्व' की सीमाओं से बाहर भी होना होगा। यदि स्वतन्त्रता निजी सुविधा नहीं, मानवीय अस्तित्व को सार्थक कर सकने वाला गंभीर नैतिक उत्तरदायित्व है, तो अपने से इतर में भी स्वतन्त्रता की इसी धारणा की प्रतिष्ठा करना ही स्वाभाविक रास्ता हो सकता है। स्वतन्त्रता की अनुभूति की सिद्धि तब सिर्फ व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, बल्कि सामूहिक—और यहां समूह का अर्थ है मानवता—स्तर पर होनी अनिवार्य है, जिसमें इस ओर भी निरन्तर सचेत रहना जरूरी होगा कि इस प्रक्रिया में स्वतन्त्रता की वैयक्तिक अनुभूति का सहार न होने पाये। सम्भवतः यही कारण रहा कि मार्क्सवादी विचारधारा के उद्देश्यों से सहमत होते हुए तथा समाजवादी जन-आन्दोलनों को अपना पूर्ण समर्थन देते हुए भी सार्त्र कम्युनिस्ट पार्टी या किसी समाजवादी देश के साथ पूर्णतया प्रतिबद्ध नहीं रह सके। सोवियत रूस की समाजवादी क्रान्ति के समर्थक होते हुए भी सार्त्र ने हंगरी या चेकोस्लोवाकिया की घटनाओं को सोवियत रूस का हस्तक्षेप मानते हुए उसका विरोध किया तथा '६८ में फ्रांस में हुए छात्र-विद्रोह के अवसर पर फ्रेंच कम्युनिस्ट पार्टी आन्दोलन के औचित्य पर सन्देह प्रकट करती रही, लेकिन सार्त्र ने आगे बढ़कर छात्रों को अपना समर्थन दिया। सार्त्र की निष्ठा में विश्वास रखने वाले लोगों ने इसमें अन्तर्विरोध देखे, तो राजनैतिक आरोपों का धन्धा करने वालों को सार्त्र में अवसरवादिता की गंध आयी। लेकिन ये दोनों ही प्रकार के आलोचक यह नहीं समझ पाये कि सार्त्र का बुनियादी सरोकार स्वतन्त्रता है, अतः उस पर किये जाने वाले हर आघात का विरोध ही उनके लिए स्वाभाविक और संगत है।

सार्त्र ने मार्क्सवाद को एक जीवन दर्शन के रूप में मान्यता इसीलिए दी कि उन्हें इसमें मनुष्य की सामूहिक स्वतन्त्रता की सिद्धि की सम्भावनाएं दिखायी दीं। उनकी पुस्तक 'ए क्रिटीक ऑफ डायलेक्टिक रीजन' में उनकी मुख्य चिन्ता मार्क्सवादी मकल्पनाओं के साथ अपनी अस्तित्ववादी प्रवृत्ति का सामंजस्य बिठाने की है। शायद यही कारण है कि सार्त्र इतिहास की प्रेरक शक्ति और प्रक्रिया के रूप में वर्ग-संघर्ष को अपेक्षाकृत गौण महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में इतिहास में व्याप्त

संघर्ष मूलत 'अभाव' के विरुद्ध है और 'अभाव' को मिटाने के लिए कामचलाऊ तौर पर वर्ग-संघर्ष का उपयोग करने का औचित्य मानते हुए भी वे पारस्परिक मानवीय सहयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। यह सहयोग कभी पारस्परिक शपथ-बद्धता के कारण घटित होता है, तो कभी सामूहिक भय के कारण। इस प्रक्रिया म कभी वर्गबद्ध शोषण भी सम्भव है और उसके निराकरण के लिए वर्ग-संघर्ष भी, लेकिन इससे वह अभाव को मिटाने के प्रयासो का एक हिस्सा-भर होता है, इतिहास की केन्द्रीय प्रेरक शक्ति नही। लेकिन सार्त्र के चिन्तन म सहयोग की यह धारणा एकायामी है और ऐसा लगता है कि 'अदर इज हेल' की धारणा कही न कहीं प्रकारान्तर से 'सहयोग' की इस सकल्पना को ग्रस रही है। यही कारण है कि सार्त्र 'सहयोग' को 'भय' की भावना से उद्भूत मानते हैं, 'स्व' को अतिक्रमित करके समग्र अस्तित्व के साथ भेंटने की ललक उनके लिए सिर्फ छाया है लेकिन सार्त्र की यह धारणा कहीं-न-कहीं उनकी स्वतत्रता की धारणा को भी खण्डित कर देती है—क्योंकि जहा भय है वहा स्वतत्रता कहा। भयोत्पन्न सहयोग की अन्तिम परिणति सामूहिक स्वतत्रता की सिद्धि हो ही नही सकती। लेकिन यह कमी शायद अकेले सार्त्र के विचारो की नही, बल्कि सारी भौतिक-वादी चिन्तनशैली की कमी है, जिसके पास समग्र अस्तित्व की बुनियादी एकता का कोई दार्शनिक आधार नही है।

पूर्वाग्रहों से मुक्ति : बर्ट्रेण्ड रसेल

सभी दार्शनिक प्रयासों का एक उद्देश्य भौतिक व्यवस्था के पीछे काम करने वाली शक्ति का अनुसन्धान रहा है और यह उद्देश्य इस प्रतिज्ञा पर आधारित है कि पूरा विश्व एक इकाई है, जो निश्चित नियमों के अनुसार आपस में सम्बद्ध है। कुछ दार्शनिकों ने इन नियमों के नियन्ता के रूप में किसी वैयक्तिक ईश्वर या निर्वैयक्तिक चेतना की कल्पना की, तो कुछ ने इसे केवल स्वायत्त प्राकृतिक नियमों से संचालित माना। लेकिन बीसवीं सदी में एक ऐसी दार्शनिक धारा का विकास हुआ, जिसने इस विश्व को स्वायत्त और यथार्थ मानते हुए भी इसमें किसी निश्चित योजना के अस्तित्व से इनकार किया। यह एक तरह का नव यथार्थवाद था, जिसे आगे चलकर 'तर्कनिष्ठ अनुवाद' का नाम दिया गया और इसी में से 'तर्कनिष्ठ भाववाद' का विकास सम्भव हो सका। जी० ई० मूर और बाद में विट्गेंस्टाइन, ए० जे० एयर और कार्नेप आदि विचारकों द्वारा विकसित इस दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रारम्भिक व्यवस्थित रूप हम ब्रिटिश दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल में प्राप्त होता है—यद्यपि 'तर्कनिष्ठ अनुवाद' का दर्शन प्रतिपादित करने वाले 1918 ई० में लन्दन में दिए गए अपने आठ व्याख्यानों में रसेल ने यह स्वीकार किया था कि इन विचारों का स्रोत अपने शिष्य विट्गेंस्टाइन के साथ उनका विचार-विमर्श रहा है। विट्गेंस्टाइन का बहुचर्चित ग्रन्थ 'ट्रैक्टाटस लॉजिको-फिलॉसॉफिकस' इन्हीं विचारों को कुछ बारीक मतभेदों के साथ प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ की भूमिका स्वयं बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखी। विट्गेंस्टाइन के विचारों को समझने के लिए यह भूमिका बहुत उपयोगी है। यहां यह ध्यातव्य है कि विट्गेंस्टाइन के अपने विचारों में आगे जाकर बहुत परिवर्तन हुआ और उन्होंने 'फिलॉसोफिकल इनवेस्टिगेशन' नामक एक और ग्रंथ लिखा, जिसके आधार पर 'तर्कनिष्ठ भाववाद' का विकास हुआ।

रसेल की बुनियादी मान्यता यह थी कि विश्व में तथ्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व है और वे आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न घटनाएं या यह विश्व एक इकाई नहीं है और हम अपने स्वभाव और संस्कारों

की वजह से उन्हें एक इकाई या सम्बन्धाश्रित व्यवस्था के रूप में देखते हैं। स्वयं बर्ट्रेण्ड रसेल के शब्दों में, 'पार्मेनाइडीज के जमाने से लेकर आज तक विद्वान दार्शनिक लोग यह विश्वास करते रहे कि संसार एक है। मेरे बौद्धिक विश्वासों में से सर्वाधिक आधारभूत विश्वास यह है कि यह मान्यता थोथी और अर्थहीन है, मेरे विचार से यह विश्व विशृंखल है, इसमें कोई एकता नहीं है, कोई निरंतरता नहीं है, कोई सम्बद्धता और व्यवस्था अथवा ऐसा कोई अन्य गुण नहीं है, जिसे अध्यापिकाएं बहुत पसन्द करती हैं। सच तो यह है कि पूर्वाग्रह और आदत को छोड़कर और शायद कुछ भी ऐसा नहीं है, जो इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रस्तुत किया जा सके कि संसार नाम की कोई चीज है भी। ' व्यवस्था, एकता और निरन्तरता तो मनुष्य के आविष्कार हैं, ठीक वैसे ही, जैसे सूचीपत्र और विश्वकोश मनुष्य के आविष्कार हैं। किन्तु मानव-आविष्कार कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर मानव-संसार में प्रचलित और प्रभावी बनाये जा सकते हैं, और अपने दैनिक जीवन के संचालन में हम नितान्त अव्यवस्थापूर्ण अंधेरी रात की कालिमा को भूल सकते हैं, जो शायद चारों ओर से हमें घेरे हुए है'''और इसमें हमें लाभ ही होगा।'

स्पष्ट है कि रसेल की मान्यता के अनुसार यह विश्व असम्बद्ध होते हुए भी यथार्थ है—इसमें सम्बद्धता मानव चेतना की आदत और पूर्वाग्रह की वजह से है। इसलिए यथार्थ केवल वस्तुगत नहीं है, वह मनोवैज्ञानिक भी है। वस्तुओं के सम्बन्धों और विशेषताओं को हम किसी प्राकृतिक विज्ञान में नहीं, बल्कि अपने तर्काश्रित विश्लेपण के द्वारा जानते हैं और हमारा विश्लेषण हमारी आदतों या पूर्वाग्रह के अनुसार होता है, इसलिए वस्तुओं के सम्बन्धों के बारे में हमारा ज्ञान हमारी 'मन:स्थिति के आधार पर निर्मित तर्कमूलक रचना' है। इसी कारण यथार्थ वस्तुगत भी है और मनोगत भी।

लेकिन यदि यह मान लिया जाए कि विश्व असम्बद्ध और अव्यवस्थित है और उसमें सारी व्यवस्था हमारा पूर्वाग्रह है तो ईश्वर, परमचेतना या वैश्विक व्यवस्था में किसी योजना की उपस्थिति आदि बातें भी हमारी आदत या पूर्वाग्रह हो जाती हैं—यहां तक कि हमारे आचरण के नियम भी। तब मानवीय व्यवहार का आदर्श क्या हो ? क्या ऐसे कोई मूल्य नहीं हैं, जिन्हें हम अपने आचरण की कसौटी के रूप में स्वीकार कर सकें ? महायुद्ध से पूर्व बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी इन सवालों पर गौर नहीं किया और अपना ध्यान वे शुद्ध दार्शनिक जिज्ञासाओं पर ही केन्द्रित किये रहे और दर्शन का काम किन्हीं जीवन मूल्यों की खोज नहीं वरन् तथ्य का विश्लेपण मात्र मानकर एक ऐसी आदर्श भाषा के निर्माण पर जोर देते रहे, जो हमें विश्व के सम्बन्ध में भ्रान्तिमुक्त कर सके, क्योंकि भाषिक व्यवहार हमारी प्रमुख आदत या पूर्वाग्रह है, जिसमें हम कई भ्रान्तियों के शिकार हो जाते

है। लेकिन महायुद्ध ने रसेल पर जबरदस्त प्रभाव डाला और उसके बाद उनका सारा ध्यान हमारी उन आदतों को सुधारने की ओर गया, जिनके कारण हम अपनी भ्रान्तियों को सत्य की तरह स्वीकार कर उनका विरोध करने वालों को नष्ट करने में भी नहीं हिचकिचाते। लेकिन एक सुधारक के रूप में भी रसेल अपनी बुनियादी मान्यताओं से नहीं हटे, जिसका परिणाम यह हुआ कि कोई नयी सामाजिक व्यवस्था को अन्तिम सत्य की तरह प्रस्तुत करने की बजाय उनका ध्यान हमें अपनी सामाजिक-नैतिक आदतों या पूर्वाग्रहों से मुक्त कर मानवीय सहिष्णुता के विकास की ओर अधिक केन्द्रित रहा।

रसेल का विचार था कि बहुत-सी सामाजिक संस्थाएं या नैतिक मानदण्ड हमारे पूर्वाग्रहों और आदतों का ही परिणाम हैं और उनमें वस्तुतः ऐसा कुछ नहीं है, जिसे हम पवित्र मान सकें। इसी कारण रसल मानवीय स्वातन्त्र्य के जबरदस्त समर्थक थे। यदि हम किसी भी बात को अन्तिम और एकमात्र सत्य की तरह प्रस्तुत नहीं कर सकें, तो मनुष्य के लिए प्रयोगों और गलतियों के माध्यम से निरन्तर सोचना और विकसित होते रहना ही एकमात्र रास्ता है। यह रास्ता स्वतन्त्र विचारों और बहस के बिना बन्द हो जाता है। इसलिए पहली आवश्यकता व्यक्तियों, परिवारों और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्र बहस को प्रोत्साहन देना है। घृणा और युद्ध विचारों की जड़ता से पैदा होते हैं। रसेल इसीलिए उन सारी धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं का विरोध करते हैं, जो स्वतन्त्र विचार-विमर्श और लोकतान्त्रिक अधिकारों का दमन करती हैं। शायद यही कारण रहा कि रसेल ने एक ओर मार्क्सवाद की राजनीतिक प्रक्रिया को स्वीकार नहीं किया, तो दूसरी ओर ईसाइयत में भी उन्हें नैतिक नियमों के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार्य नहीं हुआ। साम्यवादी राजनीति का विरोध करने के कारण कुछ लोग रसेल को पूंजीवाद का समर्थक मान सकते हैं। लेकिन सम्पत्ति के सम्बन्ध में रसल के विचार बहुत क्रांतिकारी थे। उनकी मान्यता थी कि सम्पत्ति का उत्स हिंसा और चोरी में है। जिस आर्थिक कार्य-व्यापार का उद्देश्य समुदाय का हित नहीं है और जो व्यक्तिगत मुनाफाखोरी पर आधारित है, वह हिंसा और लूट है। इस तरह की लूट से प्राप्त व्यक्तिगत सम्पत्ति को यदि राज्य सुरक्षा प्रदान करता है और लूट को विधिसम्पन्न बना देता है, तो वह राज्य एक महान बुराई है। इसलिए इस तरह के राज्य की शक्ति को कमजोर करने के लिए अधिकांश आर्थिक कार्य-व्यापार सहकारिता के आधार पर किये जाने चाहिए। रसेल के सामाजिक नैतिकता सम्बन्धी विचार भी विवाद और आलोचना के केन्द्र बने। रसेल का मानना था कि विवाह संस्था में पवित्रता जैसी कोई बात नहीं है और एक सामाजिक आदत के रूप में ही हम इसके अभ्यस्त हो गए हैं। वह विवाह किए बिना भी स्त्री-पुरुष के साथ रहने के समर्थक थे—यद्यपि इस

तरह के सम्बन्धो मे वह सन्तानोत्पत्ति की अनुमति नही देते। इसी तरह यदा-कदा विवाहेतर यौन-सम्बन्धो मे भी रसेल को कोई आपत्ति नही थी।

रसेल क्योकि मानवीय आदतो और पूर्वाग्रहो को सभी सस्थाओ का आधार मानते थे, अत स्वाभाविक था कि सामाजिक सस्थाओ मे परिवर्तन करने या उन्हे गतिशील बनाने के लिए वे आदतो और पूर्वाग्रहो से मुक्त होने पर जोर देते। यह काम शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। कारण रसेल शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिक्षार्थी मे वैज्ञानिक चिन्तन का विकास मानते थे, जिससे वह अपने पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर स्वतन्त्र चिन्तन कर सकें। साम्यवादी व्यवस्था के आर्थिक उद्देश्यो से सहमत होते हुए भी रसेल इसी कारण उसकी प्रक्रिया से सहमत नही हो पाये कि उसमे स्वतन्त्र चिन्तन और विचार-विमर्श का दमन किया जाता है। रसेल का विचार था कि यदि मानव-जाति को हिंसा और लोभ से मुक्त करना है—क्योंकि यही दो अधिकाश बुराइयो के मूल मे हैं—तो हम अपने विशाल शिक्षा-सस्थान—स्कूलो और विश्वविद्यालयो—के ढाचे और शिक्षा प्रक्रिया मे बुनियादी परिवर्तन करने होगे। क्रान्ति किसी हिंसक प्रक्रिया या कागजी कानूनो के जरिये नही लायी जा सकती। उसके लिए हमारी आदतो और पूर्वाग्रहो से मुक्ति आवश्यक है और उसका सर्वाधिक श्रेष्ठ माध्यम शिक्षा ही हो सकती है, बशर्ते कि हम शिक्षा को केवल औपचारिक और सूचनात्मक ही न बना दें। जिस तरह मनुष्य ने दूसरो को नियन्त्रित करना सीखा है, उसी तरह यह अपने को नियंत्रित करना सीख जाए तो दुनिया की अधिकाश सामाजिक-आर्थिक समस्याओ को सुलझाया जा सकता है। यह कार्य शिक्षा मे हो सकता है, लेकिन तभी, जब हम केवल पाठ्यक्रम मे ही नहीं, अपने पारिवारिक और सामाजिक वातावरण मे भी इस सकल्प को वरीयता दें।

रसेल के विचारो की सद्भावना को स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट है कि मनुष्य के नैतिक आचरण को वह कोई दार्शनिक आधार नही देते। समूचे विश्व में सम्बद्धता का अभाव देखने के कारण मनुष्य और मनुष्य की सम्बद्धता भी आवश्यकतापरक ही रहती है, वह कोई तात्त्विक आधार नहीं ग्रहण करती। अगर पूरा विश्व एक नहीं है और उसमे कोई निरन्तरता नही है, तो कोई भी मनुष्य क्यो अपने को उसके साथ जुडा महसूस करे और उसके कल्याण के लिए दत्तचित्त हो? फिर भी इसमे सन्देह नही कि रसेल इस शताब्दी के उन चिन्तको मे हैं, जिन्होने मानवीय स्वातन्त्र्य को गरिमा दी और किसी भी प्रकार की असहिष्णुता, हिंसा, शोषण और दमन के बरअक्स प्रेम, शान्ति, सहिष्णुता और वास्तविक लोकतत्र को प्रतिष्ठित करने मे अविस्मरणीय भूमिका निभाई।

स्वर्णिम भविष्य मे विश्वास : श्री अरविन्द

आधुनिक दार्शनिक प्रणालियो के सिलसिले म अधिकतर पाश्चात्य पद्धतियों पर ही विचार किया जाता है मानो आधुनिकता पाश्चात्य चिन्तन का ही पर्याय हो—बल्कि दर्शन परम्परा पर विचार करते हुए भी शकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे दार्शनिको का उल्लेख तक नही मिलता। डिलडूरा की 'स्टोरी ऑफ फिलॉसोफि' म एक भी पौर्वात्य दार्शनिक पर विचार नही किया गया और जब उस पर अपूर्णता का आरोप लगा तो उसका कारण यही था कि उसम बहुत-स पाश्चात्य दार्शनिकों को सम्मिलित नही किया गया था उनके किसी आलोचक का ध्यान नही गया कि उन्होंने नागार्जुन, शकराचार्य, रामानुजाचार्य, लाओत्स और कनफ्यूशियस-जैसे दार्शनिकों की अवहेलना की है। आधुनिक दर्शन पर विचार करत हुए तो बीसवी शती के भारतीय दार्शनिको को बिलकुल ही भुला दिया जाता है जबकि कम-स कम एक भारतीय दार्शनिक ऐस हैं जिन्होंने न केवल अपनी दार्शनिक परम्परा को वेदान्त से अलग किया बल्कि आधुनिक विज्ञान और चिन्तन का समावेश करत हुए एक अखण्ड दर्शन-पद्धति का निर्माण किया।

श्री अरविन्द (1872-1950) का अभिनन्दन करत हुए रवि ठाकुर न लिखा था "आग्नेय सन्देशवाहक जो दिव्य प्रदीप लेकर आया है। युग आशा के अमर वैभव मे प्रतिध्वनित आत्मा का महान् और उल्लासपूर्ण गीत सुनायी पडा।" आधुनिक चिन्तको मे कार्ल मार्क्स और श्री अरविन्द दो ही ऐसे दार्शनिक हैं जो एक स्वर्णिम भविष्य की कल्पना करते और अपनी कल्पना को एक तर्कसगत सुदृढ आधार भी प्रदान करते हैं। फर्क यही है—और यह बुनियादी फर्क है—कि कार्ल मार्क्स पदार्थ को ही नियन्त्रक एव मूल स्रोत मानते हैं जबकि श्री अरविन्द पदार्थ से अन्तर्निहित चेतना और उसकी प्रक्रिया को केन्द्र म रखकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण करते हैं जिसम जीवन के किसी पक्ष की अवहेलना नही होती। इसीलिए श्री अरविन्द का दर्शन टैगोर की तरह समन्वयवादी नही बल्कि अखड—इटीग्रल—माना जाता है।

श्री अरविन्द भी हेगेल, मार्क्स और बर्गसा की तरह विकासवादी आधार

पर अपने दशन का निर्माण करते हैं लेकिन उनके मतानुसार विकास प्रक्रिया एकरेखीय नही है। यह त्रिआयामी है। विकास की प्रक्रिया म विस्तार, ऊर्ध्वोन्मुखता और समग्रोन्मुखता की प्रवृत्तिया एक साथ काम करती हैं। इसीलिए भौतिक तत्त्व म से चेतना का विकास होने पर भौतिक तत्त्व नष्ट नही हो जाता—बल्कि नया विकास पुरानी स्थिति को भी अपने में समाविष्ट करता चलता है। श्री अरविन्द यह मानते प्रतीत होते हैं कि किसी भी पदार्थ में से वही चीज विकसित हो सकती है जिसकी सम्भावना उसमे पहले से मौजूद हो। इसका मतलब यह हुआ कि चेतना पदार्थ मे पहले से मौजूद है और जिसे हम विकास कहते हैं वह केवल भौतिक या जैविक विकास नही है—वह चेतना का विकास भी है। यदि चेतना पदार्थ म पहल से किसी भी रूप म मौजूद है तो पदार्थ चतना का मूल स्रोत और नियन्त्रक तत्त्व नही हो सकता। चेतना के पदार्थ मे निम्नतम स्तर पर प्रवेश और फिर उसके विकास की प्रक्रिया को श्री अरविन्द चेतना का 'अवरोहण' और 'आरोहण' कहते हैं। आरोहण की इस प्रक्रिया म चतना अन्न (वानस्पतिक जीवन), प्राण (जीव-जगत), मन (मानव जीवन) तक पहुच कर ही नही रुकती—क्योंकि इसका कोई कारण नजर नही आता कि विकास की प्रक्रिया मानव अस्तित्व तक पहुचकर रुक जायेगी—बल्कि अतिमन और अतिमानव की स्थितियो म स गुजरत हुए चिरन्तन चैतन्य का अपना मूल रूप पुन ग्रहण करती है। इसीलिए कहा जाता है कि श्री अरविन्द विकासवादी सिद्धान्त की आध्यात्मिक व्याख्या करत हैं। लेकिन यह आध्यात्मिकता सन्यासी की आध्यात्मिकता नही है। इसमे जीवन अपनी समग्रता मे निरन्तर मौजूद है—यह जीवन मात्र का आध्यात्मीकरण है। श्री अरविन्द का ग्रंथ 'दि लाइफ डिवाइन' उनकी इन सकल्पनाओं की विशद व्याख्या करता है।

श्री अरविन्द चेतना के अवरोहण आरोहण की प्रक्रिया और उसके विभिन्न स्तरो का ही विवेचन कर नहीं रह जाते। अपने एक अन्य ग्रंथ 'दि ह्यूमन साइकिल' म उन्होने मानवीय इतिहास की प्रक्रिया का भी विवेचन किया है। अभी तक के मानवीय इतिहास को तीन चरणों मे विभाजित करते हुए वे उन्हे क्रमश प्रतीकात्मक अवस्था, प्ररूपात्मक अवस्था और व्यक्तिवादपरक अवस्था कहते है। प्रतीकात्मक अवस्था मूलत धार्मिक अन्त प्रज्ञा पर आधारित है जिसम तर्कणा का स्थान महत्त्वपूर्ण नही है। तर्कणा की इस उपेक्षा के कारण ही इस अवस्था के अन्तर्विरोध समन्वित नही हो पाते और उसस एक नयी अवस्था का उदय होता है जो समाज को सस्थाबद्ध करती है। लेकिन इस अवस्था मे भी सस्था के सम्मुख व्यक्ति और उसका विवेक गौण हो जाता है। इस कारण सस्थाए जड हो जाती हैं। इस जडता के खिलाफ व्यक्ति का विद्रोह तीसरी अवस्था को जन्म देता है। श्री अरविन्द की मान्यता है कि इस व्यक्तिवादपरक

अवस्था ने ही विज्ञान का विकास सम्भव किया है क्योंकि व्यक्ति अपने इन्द्रिय-ज्ञान पर आधारित तर्कणा को ही सत्य की कसौटी के रूप में स्वीकार करता है। लेकिन श्री अरविन्द की मान्यता के अनुसार इन्द्रिय ज्ञान और उस पर आधारित तर्कणा चेतना के मानस-स्तर तक ही उपयोगी है। चेतना के विकास की प्रक्रिया अभी जारी है और उसका अगला लक्ष्य अतिमन या अतिमानव है। स्पष्ट है कि इस अतिमन या अतिमानव की ज्ञान-मीमांसा में ऐन्द्रिक-संवेदन पर आधारित चेतना की बजाय अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्बोध को केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त होगा। इसलिए केवल तर्कणा पर आश्रित रहने से काम नहीं चलता—तर्कणा से गुजर कर उस अन्तःप्रज्ञा तक पहुंचना होगा जिसमें तर्कणा की उपलब्धियां भी शामिल होंगी। इसे तुलना करना न माना जाय तो कह सकते हैं कि जैसे कार्ल मार्क्स के आदिम कम्यून और सर्वहारा अधिनायकत्व के बाद के वर्गहीन समाज के कम्यून में फर्क है, कुछ वैसे ही श्री अरविन्द की आदिम धार्मिक अन्तःप्रज्ञा और अतिमन की अन्तःप्रज्ञा में भी फर्क है। इतिहास की पूरी प्रक्रिया दोनों का रूपान्तरण कर देती है। इसीलिए श्री अरविन्द की आध्यात्मिकता में पार्थिवता का अस्वीकार नहीं है। उनकी इतिहास की व्याख्या सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मक प्रकृति—तमस् रजस् और सत्त्व—पर आधारित प्रतीत होती है।

श्री अरविन्द की इस व्यवस्था के अनुसार आज सबसे बड़ी आवश्यकता अन्तःप्रज्ञा के विकास के लिए काम करने की है। इतिहास का अगला चरण यही है, इसलिए सभी मानवीय प्रयत्नों की दिशा यही होनी चाहिए। यही कारण था कि स्वयं श्री अरविन्द ने आजादी के संघर्ष से स्वयं को प्रत्यक्षतः अलग कर अपने सम्पूर्ण कर्म को इसी दिशा की ओर मोड़ दिया। उनकी मान्यता है कि अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से ही हम सम्पूर्ण अस्तित्व की एकता और समग्रता का बोध कर सकते हैं और यह बोध ही वर्तमान सभी अन्तर्विरोधों, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों और शोषण को मिटा सकता है। इसके बिना हम एक से दूसरी अधूरी और इसलिए अन्तर्विरोधपूर्ण व्यवस्थाओं में फंसते रहेंगे।

इस प्रकार श्री अरविन्द की मूल्यमीमांसा सम्पूर्ण समाज द्वारा 'अध्यात्म ब्रह्म' के बोध को चरम मूल्य मानती है और उनकी ज्ञान-मीमांसा अन्तःप्रज्ञा को ज्ञान का प्रामाणिक स्रोत। इसीलिए श्री अरविन्द ऐसी समाज-व्यवस्था को श्रेय मानते हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान करते हुए उसमें सामूहिक जीवन का एक अभिन्न अंग होने का बोध विकसित करे। कला, साहित्य और समाजशास्त्रीय चिन्तन की दिशा भी यही होनी चाहिए। इसीलिए श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन में भी बालक में उन सुप्त गुणों के विकास का आग्रह है जो उसमें स्वैच्छिक सामुदायिक जीवन प्रवृत्ति का विकास करते हों। कुछ विषयों का ज्ञान दे देना शिक्षा नहीं है। शिक्षा बालक के सर्वांगीण विकास की वह

प्रक्रिया है जो उसम सुप्त सर्जनात्मक चेतना और प्राणशक्ति का सम्यक् विकास करती है। इसलिए शिक्षा को बालक के व्यक्तित्व मे कर्म, तर्कणा और अनुभूति का समन्वित विकास करना चाहिए। स्वैच्छिक श्रम उसम कर्म की प्रवृत्ति का विकास करता है, विज्ञान और मानविकी की विभिन्न शाखाओ का ज्ञान अपने परिवेश की समझ और तर्कशक्ति का विकास करता है तथा योग उसमे अन्त प्रज्ञा का विकास सम्भव करता है। इस अन्त प्रज्ञा क विकास म ही मनुष्य के लिए ईश्वरीय जीवन की प्राप्ति सम्भव है। श्री अरविन्द की मान्यता है कि विकास की गति इसी दिशा मे है पर हम अपने प्रयत्नों द्वारा उसे और तेज कर सकत हैं।

निश्चय ही श्री अरविन्द के दर्शन मे पार्थिव और आध्यात्मिक दोनों का स्वीकार है पर अन्तत वह चेतना को इन्द्रियातीत मानते है। लेकिन यह स्पष्ट नही होता कि अतिमन भी मानवीय देह म निवास करने के कारण ऐन्द्रिक आधार स पूणत मुक्त कैस हो सकेगा ? यदि दह के बिना अतिमन का अस्तित्व सम्भव है तो पार्थिव जीवन का क्या होगा ? पार्थिव क आध्यात्मीकरण और उसके अनस्तित्व म फर्क है। इसी प्रकार योग क आधार पर अतिमन का विकास श्री अरविन्द को रहस्यवादियो की श्रेणी म प्रतिष्ठित कर दता है जिसकी परख तर्क और ऐन्द्रिक प्रमाणो के आधार पर नही हो सकती। श्री अरविन्द के अपने जीवन और दशन मे बहुत सी परालौकिक या तान्त्रिक प्रवृत्तियो की भी स्वीकृति है जिनका कोई वैज्ञानिक आधार अभी तक स्पष्ट नही है।

लेकिन परालौकिक या तान्त्रिक को छोड दन पर भी श्री अरविन्द के दर्शन म बहुत कुछ ऐसा है जो मनुष्य के स्वर्णिम भविष्य के प्रति विश्वास पैदा करता है। बीसवी शती के अधिकाश दार्शनिको के स्वर जब शका और दुविधा से ग्रस्त है तब श्री अरविन्द न केवल मानवीय भविष्य मे अदम्य आस्था प्रकट करते है बल्कि अपनी आस्था को एक ऐसा सुदृढ तर्कसम्मत आधार भी प्रदान करत हैं जिसकी पूर्ण अवहेलना सभव नही है।

इलिच : लेनिन नहीं, टालस्टॉय

इवान इलिच उन क्रान्तिकारी विचारकों में अग्रणीय हैं जो यह मानते हैं कि आधुनिक सामाजिक-राजनैतिक संस्थाएं, चाहे भिन्न राजनैतिक विचारधारा से प्रेरित समाजों में उनके घोषित उद्देश्य और औपचारिक संगठन एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और कभी-कभी विरोधी भी लगते हों, व्यक्ति के विकास की बजाय उसका विमानवीकरण करती जा रही हैं, और अब उनमें सुधार की कोई सम्भावना नहीं बची है इसलिए उन्हें जड़ से नष्ट कर देना ही व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास की और इसलिए समाज के विकास की भी, एक मात्र गारण्टी हो सकती है। इसलिए इलिच जब वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर आक्रमण करते हैं तो वह आक्रमण पूरी समाज-व्यवस्था पर होता है, क्योंकि शिक्षा न केवल उसका एक अनिवार्य अंग है बल्कि उसी के माध्यम से वर्तमान समाज-व्यवस्था अपने को बनाये रखने की साजिश करती है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति और समाज के विकास का नहीं बल्कि यथास्थितिवाद का माध्यम हो जाती है। अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'डिस्कूलिंग सोसाइटी' के बाद इलिच ने आधुनिक चिकित्सा और उद्योग-व्यवस्था पर भी तेज आक्रमण किया है। इलिच का आक्रमण अधिकांशतः ठीक लगता है यद्यपि उनके पास कोई स्पष्ट विकल्प नहीं है—शायद उनका विश्वास है कि वर्तमान व्यवस्था के ढांचे के टूट जाने पर स्वतः ही कोई-न-कोई विकल्प विकसित हो सकेगा। अतः सबसे पहली आवश्यकता है उन संस्थाओं को नष्ट करना जो यथास्थिति की पोषक और समर्थक हैं—अपनी इस धारणा में इलिच उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी शून्यवादियों के आस-पास पहुंच जाते हैं। शिक्षा उनके आक्रमण का पहला निशाना होती है तो इसीलिए कि उसके माध्यम से समाज के भावी स्वरूप को भी वर्तमान से जकड़ दिया जाता है। 'डिस्कूलिंग सोसाइटी' की इस बात के लिए तो प्रशंसा की गई कि उसमें वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के दावों को बड़ी स्पष्टता से उजागर किया गया है लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है कि इलिच कोई ठोस विकल्प प्रस्तुत नहीं करते। अतः इलिच ने एक लम्बा निबन्ध लिखा, 'आफ्टर डिस्कूलिंग व्हाट ?' जिसमें उन्होंने शिक्षा की स्कूली प्रक्रिया को

समाप्त कर उसके वैयक्तिकीकरण पर बल दिया और इसकी व्यवस्था के लिए भी कुछ संकेत दिए। इस निबन्ध पर बहुत से प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियो ने अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति की और उनसे भी यही लगा कि शिक्षा जगत इलिच की आलोचना दृष्टि स तो सहमत है पर उनके सुझावो को स्वीकार्य नही मानता।

इलिच की मान्यता है कि अन्य सस्थाओ की तरह आधुनिक स्कूली शिक्षा-व्यवस्था भी औद्योगिक समाज का ही एक प्रतिफलन है। उद्योगीकरण की प्रक्रिया ने जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु को एक उद्योग बना दिया है उसी प्रकार शिक्षा को भी, और इसलिए ज्ञान भी एक 'जिस'—एक कमोडिटी—हो गया है। ज्ञान के आदान प्रदान की प्रणाली बिल्कुल यान्त्रिक है और उसका परिणाम बिल्कुल औद्योगिक। सीखना एक मानवीय और वैयक्तिक कर्म न रहकर एक यान्त्रिक प्रक्रिया हो गया है। इसलिए अधिकाशत यह समझा जाता है कि कुछ नयी और अधिक कुशल सस्थाएँ बनाकर ज्ञानरूपी 'जिस' के उत्पादन और खपत को अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। उद्योग जिस प्रकार उत्पादन के साथ साथ उपभोक्ताओ की वृद्धि पर निर्भर करता है उसी प्रकार शिक्षा भी एक 'जिस' हो जाने पर अपने उपभोक्ताओ की सख्या पर निर्भर करती है, इस पर नही कि वह क्या द रही है—बिना इस पर विचार किए कि वह जो द रही है उससे कही उपभोक्ताओ की सीखने की सहजवृत्ति ही तो दमित नही हो जा रही। इसमे कोई सन्देह नही कि स्कूली प्रक्रिया—यदि हम अनिवार्य उपस्थिति और प्रमाण-पत्र वितरण को उसमे स निकाल दें तब भी—इस बात की कतई चिन्ता नही करती कि शिक्षार्थी क्या और कैसे सीखना चाहता है। शिक्षार्थी की अपनी आवश्यकताओ के लिए कोई सवेदना उसमे नही है। इसी स स्पष्ट है कि शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थी के स्वभाव और व्यक्तित्व के अनुकूल उसके विकास मे सहायक होना नही बल्कि उसे एक विशाल औद्योगिक समाज-तन्त्र का एक पुर्जा बना देना हो गया है। इलिच का कहना है कि इसी कारण ज्ञान को भी इतना अधिक जटिल बना दिया गया है कि वह धीरे धीरे एक विशिष्ट वर्ग की सम्पत्ति होता जा रहा है। सामान्य व्यक्ति इस जटिलता और विशेषज्ञता तथा उसकी समर्थक व्यवस्था के सम्मुख स्वय को तुच्छ और असहाय महसूस करने लगता है और विडम्बना यह है कि इस प्रक्रिया म से गुजरने पर वह उन सब बातो को मानने के लिए विवश होता जाता है जिन्हे वह ठीक से या सतही स्तर पर भी नही समझ पाता। यदि शिक्षार्थी म किसी चीज को बिना समझे ही मान लेने की प्रवृत्ति विकसित होने लगे तो इस शिक्षा की सार्थकता कहा जाय या असफलता?

इस अबौद्धिक प्रवृत्ति के विकसित होने का दोष किसी तरह के पाठ्यक्रम का नही है—इसलिए पाठ्यक्रम को सुधार या बदलकर शिक्षा म कोई बुनियादी परिवर्तन नही लाया जा सकता और शायद इसी कारण साम्यवादी और

दोष को उनके पूरे व्यापक परिणामों के साथ उजागर करती है, ये शिक्षाशास्त्री उनके द्वारा सुझाये गये हल और विकल्प को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो सके। उनकी राय म विस्कूलीकरण कोई आदर्श हल प्रस्तुत नहीं करता। उनकी आपत्तियां सैद्धान्तिक भी हैं और कुछ व्यावहारिक भी।

इलिच की दृष्टि मूलत निषेधात्मक दृष्टि है क्योंकि यह सामाजिक सस्थाओं के—और इसलिए स्कूल के भी—उस स्वरूप को तो देखती है जो व्यक्ति और शिक्षार्थी की स्वतन्त्रता को कुण्ठित करने लगा है लेकिन सस्थाओं के उस स्वरूप की ओर उनका ध्यान नहीं जाता जिसके कारण समाज एक इकाई बना और रह सका है। समय और परिस्थिति के अनुरूप सस्थाओं के स्वरूप और प्रक्रिया में परिवर्तन की आवश्यकता पडती है लेकिन उनको बिल्कुल नष्ट कर देना समाज को पुन जगल की ओर लौटा ल जाना हागा—बल्कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में यह शायद सम्भव ही नहीं है। इलिच यह मान लेते हैं कि आधुनिक औद्योगिक समाजो की समस्याएं मूलत सस्थापरक हैं और उनका हल सामाजिक बीजकोष म है। लेकिन जैसा कि हरबर्ट जिटिस कहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि स्वय औद्योगीकरण और उससे उत्पन्न सस्थाओं का बीजकोष आर्थिक है और अपने विश्लेषण को उस पर आधारित किए बिना कोई वास्तविक हल नहीं निकाला जा सकता। लेकिन वह हल विस्कूलीकरण नहीं होगा क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार का सस्थागत स्वरूप बना रहना लाजिमी होगा। यदि विस्कूलीकरण ही सही हल होता तो शान्तिपूर्व चीन और क्यूबा के समाज, जो मूलत स्कूली समाज नहीं थे, आदर्श समाज होते। लेकिन हम जानते हैं कि ऐसा नहीं था। इलिच जिस प्रकार की स्वतन्त्र शिक्षा की बात करते हैं उसमें वे ही खतरे हो सकते हैं जो मुक्त अर्थतन्त्र मे होते हैं। यदि हम स्कूल बन्द कर दे तो दमन और बढ जायेगा क्योंकि सम्पन्न और महत्त्वाकाक्षी लोग शिक्षा की सत्ता को भी अधिक से-अधिक अपन म केन्द्रित कर लेंगे और कम भाग्यशाली या सामाजिक दृष्टि से पिछडे लोगो का दोहन करते रहेंगे। ज्ञान भी सत्ता का एक प्रकार हो सकता है और उस बटवारे को पूर्णतया निजी क्षेत्र मे छोड देना एक ऐसे वर्ग को जन्म दे सकता है जो ज्ञान को भी पैतृक सम्पत्ति बना दे और कुछ विशेष प्रकार के ज्ञान को कुछ विशेष प्रकार के लोगो के लिए ही आरक्षित कर अन्य का बहिष्कार कर दे—क्या कभी वेद का ज्ञान शूद्रों और स्त्रियों के लिए निषिद्ध नहीं कर दिया गया था ? आर्थर पर्ल का यह कहना सही लगता है कि सार्वभौमिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है और उसको सगठित किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य के अस्तित्व के खतरे भी सार्वभौम हैं। आज हम जिन मानव अधिकारों को सम्माननीय और रक्षणीय समझते हैं उनकी रक्षा एक सस्थागत ढाचे म ही हो सकती है—आदिम समाजों मे वैयक्तिक और मानवीय अधिकारो की कोई धारणा तक भी नहीं थी।

इसके अतिरिक्त इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए कि मनुष्य स्वतन्त्रता से भी कई स्तरों पर और कई रूपों में पलायन करता है। ऐरिक फ्राम के अनुसार स्वतन्त्रता और आज के अन्य सत्य पीड़ादायक सत्य हैं अतः मनुष्य उनसे बचने की हर सम्भव कोशिश करता है। उसे यह अधिकार तो है कि वह उन से प्रभावित हो या नहीं, लेकिन वे हैं इसकी जानकारी के बिना उसका काम नहीं चल सकता। ऐसी जानकारी देने के लिए भी किसी न-किसी प्रकार की अनिवार्यता की आवश्यकता होगी। साथ ही यह भी देखना होगा कि वे अधिकांश लोग, जिनकी इलिच चिन्ता करते हैं, विस्कूलीकरण से सहमत हैं या नहीं। अधिकांश गरीब और अशिक्षित लोग स्कूल चाहते हैं—एक ऐसा स्कूल जो उनके नियन्त्रण में हो। इलिच कह सकते हैं कि उन्हें यह समझ नहीं कि वे क्या कर रहे हैं—लेकिन ऐसा कहना इलिच की बुनियादी मान्यता का ही विरोध करना होगा क्योंकि इलिच ही तो सबको यह अधिकार देना चाहते हैं कि सब अपने तरीके से अपनी पसन्द की शिक्षा ग्रहण कर सकें। लेकिन इलिच के विचार फिर भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। उनकी आलोचना को दृष्टि के सम्मुख रखने पर हमें एक ऐसा पैमाना मिल जाता है जिसके आधार पर हम नयी शिक्षा के विकास को परख सकें और उसे मानवीय बना सकें। नील पोस्टमैन के शब्दों में "इलिच हमारे टॉलस्टाय हो सकते हैं, लेनिन नहीं।" उन पर हम विचार कर सकते हैं उसी तरह जिस तरह हम एक मौलिक कवि पर विचार करते हैं—वैसे नहीं जैसे एक राजनीतिक क्रान्तिकारी पर किया जाता है।

(पेरेनिअल पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित, 'आफ्टर डिस्कूलिंग व्हाट ?' पर आधारित।)

वैज्ञानिक मानववाद : शिक्षा की भूमिका

जीव विज्ञान मे डार्विन और मनोविज्ञान मे फ्रायड के निष्कर्षों के परिणामस्वरूप मानव की छवि एक ऐसे जीव के रूप मे विकसित होने लगी जो बुनियादी रूप से 'पशु' है जिसके अस्तित्व का प्रयोजन मात्र जैविक आवश्यकताओ और आवेगो की पूर्ति ही है और यह समझा जाने लगा कि मानवीय जीवन की सारी समस्याएं और उनका समाधान इन्हीं आवश्यकताओ और आवेगो की सतुष्टि के तरीको और मात्रा पर निर्भर करती है। इस चिन्तन ने सृष्टि की प्रक्रिया मे मानव के महत्व को गौण कर दिया क्योंकि उसकी मानवीय प्रवृत्तियों को उसकी अपनी विशिष्ट पहचान नही बल्कि उसके प्राथमिक आवेगों के आधार पर विकसित माना गया। डार्विन के विकासवाद ने 'योग्यतम के जीवित रहने के सिद्धान्त' के आधार पर मानव को पशुओ मे योग्यतम घोषित किया तो फ्रायड ने इस 'जैविक भौतिकीय' (Bio-physical) प्राणी के सभी क्रियाकलापो को उन दलित आवेगो के साथ जोडकर देखा जो मनुष्य और पशु मे समान रूप से पाये जाते हैं। इस दर्शन ने वैज्ञानिक आधार का दावा अवश्य किया पर इसे सही अर्थों मे मानववादी नहीं कहा जा सकता था क्योकि इसने मानव को मूल्यगत स्तर पर श्रेष्ठ या अलग नही माना और सृष्टि की प्रक्रिया मे उसका स्थान केन्द्रीय नही रहा बल्कि प्रक्रिया उससे अधिक महत्वपूर्ण हो गयी।

लेकिन नवफ्रायडवादी कहे जाने वाले एरिकफ्रॉम, हार्नी और सलिवन जैसे मनोविश्लेषण शास्त्रियो ने मानव जीवन मे जैविक आवश्यकताओ और आवेगों का, जिनमे फ्रायड ने लिबिडो को सर्व प्रमुख समझा, महत्व स्वीकार करते हुए भी उन्हें मानवीय आचरण को प्रभावित करने वाली सर्वाधिक प्रबल वृत्ति नही माना। फ्रॉम के अनुसार यौनवृत्ति और उसके अन्य रूप प्रभावी होते हुए भी सर्व प्रबल नही है और केवल उनका कुठित होना ही मानसिक असतुलन या विक्षिप्तता का कारण नही है, मानवीय आचरण को प्रभावित करने वाले सबसे प्रबल तत्व उसके अस्तित्व की स्थितियों मे अर्थात् उसके मानव होने की स्थिति मे ही निहित होते हैं। 'मानव स्थिति' से फ्रॉम का तात्पर्य उस

ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति से है जिसमे मनुष्य आज है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे अपने अनुभवो और अध्ययन के आधार पर फ्रॉम ने निष्कर्ष स्थापित किया कि मनुष्य केवल जैविक आवेगो द्वारा निर्मित नही है बल्कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया मे जिन मानवीय प्रवृत्तियो—यथा स्वतन्त्रता, प्रेम, सामाजिकता आदि का उसम विकास हुआ है, व ही उसकी जीवनशैली और आचरण को प्रभावित करन वाली प्रेरक शक्तिया हैं—उन्ह किसी भी तरह जैविक आवेगो की अपेक्षा दूसरे दर्जे की प्रवृत्तिया नही स्वीकार किया जा सकता। इस प्रकार इस विचार ने मानव के विकास को सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे समझना चाहा। मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे इस चिन्तन को 'नवफ्रायडवाद' और समाज विज्ञान के क्षेत्र मे 'वैज्ञानिक मानववाद' कहा गया। इस चिन्तन-परम्परा मे व्यक्ति मानव की स्वतन्त्रता और सामाजिकता पर आग्रह होने के कारण कुछ लोगो द्वारा इसे समाजवादी मानववादी भी कहा गया—वरिक आर्थिक अभावो को मिटाने के सन्दर्भ मे स्वय फ्रॉम ने एक हद तक मार्क्सवादी विचारो की प्रासगिकता को स्वीकार किया। इन मनोविश्लेषणशास्त्रियो मे जहा अन्य लोग अधिकाशत मनोविज्ञान के क्षेत्र तक ही बद्ध रहे, वहा फ्राम ने मनोविश्लेषण के अपने अनुभवो के आधार पर मानवीय जीवन का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की और इसलिए वे केवल मनोवैज्ञानिक ही नही सामाजिक चिन्तक भी कहलाए।

एरिकफ्रॉम सास्कृतिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया मे मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप मे विकसित हुआ मानते हैं, अत सामाजिकता की भावना मनुष्य स्वभाव की सहज वृत्ति है। इसी तरह स्वतन्त्रता भी मानव के रूप मे उसकी मूलवृत्ति है। स्वतन्त्रता इस सामाजिकता की भावना से युक्त मानव प्राणी की 'स्वचेतना' की अनुभूति है और समाज मे रहते हुए इस 'स्वचेतना' की सन्तुलित सिद्धि न हो पाने के कारण ही वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर मानसिक असन्तुलन पैदा होता है जो मनोविक्षोभ का मूल कारण बन जाता है। इस प्रकार एरिकफ्रॉम स्वतन्त्रता और सामाजिकता को, जो सामाजिक चिन्तन मे मूल्य का दर्जा रखते हैं मनोविज्ञान के क्षेत्र मे मानवस्वभाव की सहज वृत्ति बना देते हैं। लेकिन इस सहज स्वभाव के अनुसार सहज आचरण इतना सहज नही है क्योकि ऐतिहासिक प्रक्रिया निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील है अत उसके बदलते हुए रूपों के साथ सही सम्बन्ध बनाए रखने म व्यक्ति और समाज को निरन्तर सक्रिय रहना पडेगा। ऐसा न हो सकने पर व्यक्ति मानवो और समाज मे एक मानसिक विक्षोभ और असन्तुलन विकसित हो सकता है।

स्वतन्त्रता का अनुभव वास्तव मे मानव अस्तित्व का सहजात अनुभव है।

मानव के रूप में अस्तित्व में आने के साथ ही मनुष्य अपने से इतर जगत से स्वयं को स्वतन्त्र और अलग अनुभव करने लगता है और बाह्य जगत भी उसके लिए अपने से अलग एवं अन्य दिखता है। लेकिन स्वतन्त्रता का यह अनुभव उसके लिए असहनीयता की हद तक कष्टप्रद होता है क्योंकि वह स्वतन्त्र और अलग होने में खुद को इस विशाल जगत के सम्मुख अकेला और असहाय पाता है। इस कष्टप्रद अकेलेपन और असमर्थता की भावना से उबरने के दो ही रास्ते हो सकते हैं। पहला है अपनी स्वतन्त्रता के इस बोझ और तनाव से बच निकलने के उपायों की खोज यानी प्रत्यक्ष-परोक्ष तरीकों से किसी अन्य के सम्मुख अपनी स्वतन्त्रता के समर्पण के माध्यम से जगत् के साथ अलगाव को समाप्त करने का प्रयास। लेकिन यह प्रयास कभी भी मानव को उस तरह जगत के साथ एक नहीं कर सकता जिस तरह वह एक 'व्यक्ति मानव' के रूप में विकसित होने से पहले था क्योंकि उसके अलग हो जाने के तथ्य को उलटा नहीं जा सकता। इस कारण यह प्रयास किसी स्वस्थ और सुखी जीवन की ओर नहीं ले जाता बल्कि मनुष्य निरन्तर दुश्चिन्ताओं और तनावों के जाल में फंसता चला जाता है और इस प्रकार उसका अपना अस्तित्व भी उसके लिए असहनीय हो जा सकता है। आधुनिक सामाजिक, राजनैतिक जीवन के बहुत से तनावों के मूल में यही बात है। एरिकफ्रॉम की मान्यता है कि इसलिए दूसरा रास्ता, जिसे वह विधायी या 'धनात्मक स्वतन्त्रता' कहते हैं, ही काम्य है जिसमें वह अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखते हुए प्रेम, कर्म और अपनी भावात्मक, ऐन्द्रिक तथा बौद्धिक क्षमताओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने को जगत् के साथ सहजतापूर्वक धनात्मक रूप से जोड़ सकता है और इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता और व्यक्ति 'स्व' को खंडित किए बिना मनुष्य मात्र, प्रकृति और अपने आप के साथ ऐक्य अनुभव कर सकता है। फ्रॉम का निष्कर्ष है कि अकेलेपन और असहायता की अत्यन्त कष्टप्रद अनुभूति से उबरने का निषेधात्मक रास्ता मनोवैज्ञानिक स्तर पर परपीडन-आत्मपीडन और अपने से इतर किसी सत्ता के सम्मुख समर्पण के विविध रूपों की ओर ले जाता है जिससे अधिनायकवाद, सर्वसत्तावाद और विनाशात्मकता जैसी विकृतियां समाज में विकसित हो जाती हैं। सामाजिक जीवन में रूढ़िगत आचरण, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, दल, राज्य आदि पर निर्णय छोड़ देना तथा जनमत, कॉमनसेंस, यहां तक कि वैज्ञानिकता और हर बात पर आयाससिद्ध अन्तःकरण आदि भी सहज स्वतन्त्रता से पलायन के विभिन्न मनोवैज्ञानिक उपाय हैं। अपनी पुस्तकों में फ्रॉम ने इस विकृति की मानसिक और सामाजिक-राजनैतिक अभिव्यक्तियों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। लेकिन दूसरा रास्ता स्वतन्त्रता, प्रेम और रचनाशीलता जैसी सहज वृत्तियों में से होकर गुजरता है जिसकी सामाजिक राजनैतिक अभिव्यक्ति लोकतन्त्र,

समतावाद और बन्धुत्व में होती है—मनोविश्लेषण के अपने अनुभवों के आधार पर फ्रॉम यही सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति मानव के सामाजिक चरित्र के विकास के आधार पर ही समाज का भावी विकास निर्भर करता है—यद्यपि वे आश्वस्त भी रहते हैं कि स्वतन्त्रता और प्रेम जैसी भावनाएं किसी भी तरह पूर्णतया और सदैव के लिए समाप्त नहीं की जा सकती क्योंकि वे एतिहासिक-सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया का मनुष्य में परिणाम हैं। यहां यह ध्यान कर लेना जरूरी है कि मनोविज्ञान की भाषा में चरित्र से तात्पर्य उन प्रवृत्तियों से है जो मानवीय आचरण का संचालन करती हैं। इस चरित्र के विकास के सन्दर्भ में फ्रॉम शिक्षा की भूमिका पर भी विचार करते हैं।

एरिक फ्रॉम शिक्षा की उस अवधारणा से सहमत हैं जिसके अनुसार शिक्षण का प्रयोजन मनुष्य की अन्तर्निहित संभावनाओं की अभिव्यक्ति माना गया है। यह अभिव्यक्ति एक समाज में, एक परिवेश में होती है, अतः इस समाज और परिवेश के साथ एक सृजनात्मक सम्बन्ध का विकास करना अपने आप ही शिक्षा का एक प्रयोजन हो जाता है। लेकिन शिक्षा द्वारा ऐसा तभी हो सकता है जब समाज भी ऐसा ही चाहता हो। शिक्षा का सामाजिक कार्य व्यक्ति को उस भूमिका के लिए तैयार करना है जो उसे आगे चलकर समाज में निभानी है अर्थात् उसके सामाजिक चरित्र को इस तरह विकसित करना है कि उसकी इच्छाओं और सामाजिक भूमिका में सहज संयोग बना रहे—किसी भी समाज की शैक्षणिक व्यवस्था का निर्धारण इसी उद्देश्य से होता है। एरिक फ्रॉम कहते हैं कि इसीलिए हम शैक्षणिक प्रक्रिया के द्वारा किसी समाज की व्याख्या नहीं कर सकते बल्कि किसी समाज की सामाजिक-आर्थिक संरचना की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में शिक्षा-पद्धति को समझना होगा। शिक्षा की विभिन्न पद्धतियों के माध्यम से हम सामाजिक आवश्यकताओं का वैयक्तिक गुणों में रूपान्तरण करते हैं।

आधुनिक मानव ने अपनी स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व के अनुभव के असहनीय बोझ और अकेलेपन और असमर्थता के अहसास से उबरने के लिए कई निषेधात्मक रास्ते खोजे हैं और ऐसी शिक्षा-पद्धति विकसित की है जो स्वतन्त्रता के भय को और गहरा और उससे पलायन के रास्ते की ओर सुगम कर देती है। पुस्तकीय शिक्षा प्रणाली जगत को एक जीवन्त यथार्थ नहीं बल्कि एक अवधारणा कर देती है। पुस्तक के माध्यम से जगत से सम्बन्ध स्थापित होने के कारण उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध कायम होने में बाधा पैदा होती है और वस्तु-जगत या प्राणी-जगत के साथ सम्पर्क में सहजता का अभाव रहता है। इसी तरह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में सूचनापरकता पर अधिक आग्रह शिक्षार्थी मानव

की आलोचनात्मक-रचनात्मक विचारशीलता को कुंठित करता है। इस प्रकार शिक्षार्थी इस प्रक्रिया में निष्क्रिय ग्रहीता मात्र होने लगता है। दूसरे शिक्षा-प्रक्रिया में पुस्तकीय जानकारी पर अधिक आग्रह मानवीय श्रम और सक्रियता को कुंठित करता है। इसी प्रकार विशेषज्ञता पर आवश्यकता से अधिक बल देना केवल व्यक्ति के अपने अनुभव और निर्णयक्षमता की बजाय उसे किसी अन्य के निर्णय पर निर्भर कर देता है और इस पूर्वाग्रह की भी पुष्टि करता है कि सामान्य व्यक्ति में जटिल और गम्भीर बातों को समझने की क्षमता नहीं होती अत यह प्रकारान्तर से मानव में अन्तर्निहित सम्भावनाओं पर आघात करता है। धीरे-धीरे इस विशेषज्ञता का भी विस्तार होता चला जा रहा है और केवल वैज्ञानिक या यान्त्रिक मामलों में ही नहीं, दैनन्दिन कामकाज की बातों में भी विशेषज्ञता का आग्रह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बाधित करने लगा है।

एरिक फ्रॉम की राय म यह सब तब होता है जब हम अपनी स्वतन्त्रता का धनात्मक विकास करने की बजाय उसे एक बोझ मानकर उसके उत्तरदायित्व से बचने की कोशिश करते हैं। लेकिन ऐसा करने में हम और दुखी, और तनाव-पूर्ण तथा और विक्षोभपूर्ण होते जाते हैं जिसका विस्फोट कभी भी तानाशाही, हिंसा, विनाश या ऐसे ही किसी अन्य रूप में हो सकता है। इस खतरे से बचाव एक ऐसे स्वस्थ और सुखी समाज की रचना म है जिसम स्वतन्त्रता, सृजनशीलता, प्रेम और कर्म आदि प्रवृत्तियों का सहज विकास हो। इस प्रयोजन की पूर्ति वह शिक्षा ही कर सकेगी जिसकी पद्धति और प्रक्रिया इन उद्देश्यों द्वारा ही निर्दिष्ट हो और शिक्षा की यह प्रक्रिया सिर्फ औपचारिक शाला तक ही सीमित नहीं रहेगी बल्कि परिवार और सारे समाज तक उसका विस्तार होगा क्योंकि हर स्तर पर निरन्तर सीखते चलने की प्रवृत्ति भी उन बुनियादी मानवीय प्रवृत्तियों म एक है जो इतिहास की गति को अर्थवत्ता देती है।

अस्तित्ववादी शिक्षा-दर्शन : मार्टिन बूबर के सन्दर्भ मे

शिक्षा के बारे मे विचार करते हुए इस धारणा को पूर्वमान्य समझकर चला जाता रहा है कि उसका मुख्य उद्देश्य शिक्षार्थी बालक मे सृजनशील सम्भावनाओं का विकास करना है। शिक्षा पर किया जाने वाला अधिकांश विचार-विमर्श इसी धारणा के इर्द-गिर्द घूमता रहा है। पशु और मनुष्य मे प्रमुख बुनियादी अन्तर यही है कि मनुष्य एक सृजनशील चेतन प्राणी है, अत शिक्षा का स्वाभाविक उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह बालक मे सुप्त इस सृजनात्मकता के प्रस्फुटन की प्रक्रिया बने। मार्टिन बूबर इस सृजनात्मकता को अनस्तित्व मे छिपे जीवन को साकार करने के लिए, एक दैवी पुकार कहते हैं। यह पुकार प्रत्येक बालक मे है। यह प्रवृत्ति एक ऐसी सहज स्वायत्त प्रवृत्ति है, जो अन्य किसी वस्तु पर आधारित नही है। बालक कुछ सृजन करना चाहता है। वह प्रत्येक वस्तु के 'होने' और 'हो रहे, होने' मे अपनी सहभागिता चाहता है। इसलिए शिक्षा का प्रमुख कार्य यह हो जाता है कि वह बालक को इस प्रवृत्ति की सक्रिय अभिव्यक्ति के योग्य बनाने मे अपनी सही भूमिका निभाये।

बूबर ने सृजनशीलता की इस प्रवृत्ति को 'ओरिजिनेशन इंस्टिंक्ट' नाम दिया है, जिसे हम चाहें तो सिसृक्षा कह सकते हैं। इस सिसृक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी बूबर इसे अपने शिक्षा दर्शन का केन्द्रीय आधार नहीं बनाना चाहते, इसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला तो यही कि इस सृजनशीलता के चरितार्थ होने मे उस परिवेश की भूमिका अधिक निर्णायक है जिसमे बालक को रहना होता है। दूसरी यह कि सृजेता व्यक्ति निरन्तर अकेला होता चला जाता है, क्योंकि सृजन की पीड़ा अकेले की पीड़ा है। इस बात से अधिक अन्तर नही पड़ता कि उसकी उपलब्धियों को अधिकांश लोगो द्वारा सराहना मिलती है या नही। बूबर की राय मे इस सृजेता व्यक्ति के लिए इस सराहना से भी अधिक जरूरी है कि कोई मित्र, साथी या प्रेमी के रूप मे उसका हाथ थाम ले। ऐसा न हो सकने पर उसका अकेलापन निरन्तर बढ़ता चला जाता है, जो निश्चय ही अत्यन्त पीड़ादायक है। अतः बूबर की यह दलील युक्ति-संगत लगती है कि यदि शिक्षा-प्रक्रिया की

केन्द्रीय पीठिका के रूप म केवल इस सृजनशीलता को ही रखा जाय तो मानवता को एक ऐस अकेलेपन से ग्रस्त होना होगा, जो बहुत यन्त्रणादायक होगा। बूबर कहते हैं कि सच्चे मानवीय जीवन के लिए दो बातें और अनिवार्य हैं . किसी भी कार्य मे सहभागिता और पारस्परिकता की अनुभूति । सिसृक्षा स्वयमेव इन दानो बातों की ओर न तो बालक को प्रवृत्त करती है और न कर ही सकती है। अत. केवल सिसृक्षा पर आधारित शिक्षा-प्रक्रिया बालक को जीवन की सम्पूर्ण वास्तविकता का साक्षात्कार करने योग्य नही बना सकेगी।

लोकतत्र और व्यक्तिवाद की धारणाओ के लोकप्रिय होने के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र मे भी 'स्वतत्रता' की धारणा अधिक प्रभावी होती गई है। बूबर भी इस धारणा का महत्त्व तो स्वीकार करत हैं लेकिन उनका विचार है कि इसे सही सदर्भ म नही समझा गया है। यह ठीक है कि 'स्वतन्त्रता' के बिना बालक में किसी भी प्रकार का विकास सम्भव नही है। इसके लिए वे चित्रकला की कक्षा का उदाहरण देत हैं। चित्रकला की किसी प्रारम्भिक कक्षा मे यदि पूर्वनिश्चित रूपाकारों के आधार पर शिक्षा दी जाय तो उससे रूपाकारो के प्रति विरक्ति और विद्रोह पैदा होता है, जबकि सहज प्रवृत्ति के आधार पर बालक द्वारा यदि चित्र बनाये जाए, तो धीरे-धीरे न केवल उस रूपाकारो की समझ आ जाती है, बल्कि उनके प्रति उसके मन में सम्मान की भावना जाग जाती है।

शायद इसीलिए शिक्षा मे बालक मे अन्तर्निहित शक्तियो के सहज एव मुक्त प्रवाह को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। बूबर भी इस मुक्त प्रवाह, जिसे वे *'स्वतत्रता' कहते हैं, के महत्त्व को तो स्वीकार करते हैं लेकिन इस स्वतत्रता को* 'बाध्यता' (कम्पल्शन्) के विकल्प के रूप मे स्वीकार नही करते। सामान्यतया 'मुक्ति' या 'स्वतन्त्रता' को 'बाध्यता' के विपरीत ध्रुव के रूप म समझा जाता रहा है, लकिन बूबर की यह मान्यता उनकी अन्तर्दृष्टि का प्रमाण है कि स्वतत्रता सच्चे मानवीय जीवन की निर्मिति के लिए भूमि का तो काम करती है लेकिन नीव का नहीं। प्रकृति, समाज या नियति से मुक्ति जैसी कोई चीज नही हो सकती, क्योकि कोई भी मनुष्य परिवेश के बिना नही रह सकता। जो सदैव है वह है और उसे अनहुआ नही किया जा सकता। अधिक-से-अधिक उसके साथ एक सहभागिता या घनिष्ठ सवादात्मकता का सम्बन्ध कायम किया जा सकता है। बूबर इस सम्बन्ध को 'कम्युनियन' कहते हैं। अत सामाजिक सन्दर्भ म 'बाध्यता' का वैपरीत्य 'सहभागिता' या 'सवादात्मकता' म है, स्वतन्त्रता किंवा मुक्ति म नही। यह निर्विवाद है कि इस 'सहभागिता' के लिए भी स्वतन्त्रता आवश्यक है। पर यहा स्वतन्त्रता गन्तव्य नहीं बल्कि वह पुल हो जाती है, जो हमे 'सहभागिता' या 'सवादात्मकता' की ओर ले जाती है। 'शक्तियो के मुक्त प्रवाह' का सिद्धान्त इस प्रकार शिक्षा प्रक्रिया की पूर्व भूमिका ही हो सकता है,

यद्यपि वास्तविक शिक्षा यह बोध होने पर ही सम्भव है कि इस सहज उत्साही प्रवाह को इतनी छूट दी जानी चाहिए कि वह अपनी राय दे सके। केवल स्वतन्त्रता मे जिया जा रहा जीवन एक ऐसी मानवीय नियति है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को क्रॉस की भांति अकेले ही ढोना होता है। इस प्रकार जीवन या तो एक नितान्त व्यक्तिगत जिम्मेदारी हो जाती है या एक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना।

अस्तित्ववादी विचार दर्शन मे यह अकेलापन—यह नितान्त व्यक्तिगत जिम्मेदारी—मानव-जाति की यन्त्रणा का मूल स्रोत है। लेकिन बूबर जैसे धार्मिक अस्तित्ववादी इस अकेलेपन को अनुल्लघनीय नही मानते। यह ठीक है कि व्यक्ति अकेला है, लेकिन 'सहभागिता' या 'सवादात्मकता' के क्षणो म उसके अकेलेपन को सम्पन्नता मिलती है। इन्ही क्षणो को बूबर 'मैं तू' (I-Thou) की सहभागिता या 'कम्युनियन' के क्षण मानते है। यह 'मैं-तू' अन्योन्याश्रित है। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादियो की तरह बूबर 'मैं' का 'अन्य' के साथ अनिवार्यतया विरोध या तनाव नही मानते, बल्कि 'तू' के माध्यम स 'मैं' को सत्य की अनुभूति सम्भव होती है। यह 'तू' व्यक्ति भी है, प्रकृति भी और परम आध्यात्मिक सत्ता भी। अत शिक्षा प्रक्रिया क सन्दभ म समग्र परिवेश ही 'तू' की धारणा के अन्तर्गत आ जाता है।

यदि जीवन सम्बन्धो के इस विश्लेषण की पृष्ठभूमि मे विचार किया जाये, तो शिक्षा एक ऐसा बुनियादी सम्बन्ध हो जाती है, जिसे शैक्षणिक प्रक्रिया म चरितार्थ किया जाना है, क्योंकि तभी बालक के जीवन म भी वही बुनियादी सम्बन्ध घटित हो सकता है, जो उसे 'अन्य' के साथ सवादात्मकता या सहभागिता की ओर ले जाय—बूबर के दशन के अनुसार भी यही तो 'मैं' यानी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की एकमात्र साथकता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से बूबर का शिक्षा-दर्शन 'मैं' और उसके पूरे परिवेश के साथ एक सवाद और सहभागिता विकसित करने का दर्शन है।

बूबर के अनुसार सहभागिता का यह बुनियादी सम्बन्ध शिक्षा प्रक्रिया म भी घटित होता है। शैक्षणिक प्रक्रिया शिक्षक और शिक्षार्थी बालक के बीच एक 'सवादात्मक सम्बन्ध विधान' है। बूबर ने इस सम्बन्ध मे विधान के तीन स्तर मान हैं पहला स्तर शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच एक अमूर्त पारस्परिक अन्तर्भावन का है, लकिन इस सम्बन्ध विधान म व्यक्ति मूलत एक आध्यात्मिक सत्ता है, अत उसके अस्तित्व के दूसरे पहलू इसमे बाहर ही रह जात हैं, जिन्हे बूबर न अलग स व्याख्यायित किया है।

इन दो म प्रथम शैक्षणिक सम्बन्ध एक ठोस किन्तु एकपक्षीय अन्तर्भावन पर आधारित है। यदि शिक्षा का अथ यह है कि 'सत्य' एक व्यक्ति के माध्यम स दूसरे व्यक्ति तक सम्प्रेषित किया जाय तो बूबर के अनुसार यह एक अजीब

विरोधाभासी स्थिति है। इसमे इस बात का खतरा निरन्तर बना रहता है कि माध्यम अर्थात् शिक्षक अथवा उस शिक्षक को नियुक्त करने वाली व्यवस्था का दृष्टिकोण हावी हो जाये। अत इसमे यह सम्भावना भी निरन्तर बनी रहती है कि शिक्षा देने की इच्छा कभी भी स्वेच्छाचारिता मे बदल जाय। इस सम्बन्ध-विधान मे शिक्षक तो यह महसूस करता रह सकता है कि बालक शिक्षित हो रहा है, जबकि बालक को यह महसूस न हो कि शिक्षक भी शिक्षा ग्रहण करता चल रहा है। इसी कारण यह सम्बन्ध विधान एक-पक्षीय हो जाता है। शिक्षक इस प्रकार इस सम्बन्ध विधान के दोनो छोरो पर खड़ा रह सकता है जबकि बालक एक ही छोर पर।

लेकिन एक स्तर एसा आ सकता है—और यदि प्रक्रिया ठीक तरह से चल रही है तो आता भी है—जब शिक्षार्थी भी अपने को इस सम्बन्ध-विधान के दूसरे छोर तक पहुचाने मे काबिल हो जाता है। बूबर ने इस अपने 'संवादात्मक सम्बन्ध-विधान' म 'मैत्री' का स्तर माना है। इस प्रकार अब यह इकतरफा नही रहता बल्कि पारस्परिक हो जाता है। यह 'मैत्री' शिक्षक और बालक, बालक और परिवेश तथा 'मैं-तू' के बीच अन्तर्भावन के एक मूर्त और पारस्परिक अनुभव पर आधारित है। इस मैत्री सम्बन्ध म शिक्षक को—और प्रकारान्तर स प्रत्येक 'मैं' को—दो बातें एक साथ अनुभव होती हैं पहली तो यह कि वह किसी 'अन्य' के द्वारा सीमित है लेकिन साथ ही यह भी कि इस 'अन्य' के साथ सहभागिता मे ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार शैक्षणिक प्रक्रिया मे 'अन्य' के माध्यम से शिक्षक का आत्मशिक्षण भी होता है और बूबर की मान्यता के अनुसार आत्मशिक्षण कवल 'स्व' पर केन्द्रित रहने से सम्भव नही होता, यह अनिवार्यत अपने स बाहर के साथ जुड़ने पर ही घटित हो सकता है।

लेकिन इस विश्लेषण म ही हम शिक्षा के किसी एसे निश्चित सिद्धान्त तक नही पहुच सकत जिसम बालक का गन्तव्य पूर्वनिर्धारित हो। हम अधिक से अधिक यही समझ सकते हैं कि वास्तविक शिक्षा कहा प्रारम्भ होती है। बूबर की मशा भी यही है क्योकि उनके अनुसार शिक्षा म कुछ भी पूर्वनिश्चित आप्त-वाक्य नही हो सकता। शिक्षा के द्वारा आज तक जो कुछ सम्प्रेषित करने के प्रयत्न किए जाते रहे हैं वह वास्तव मे उस व्यवस्था, समाज, सस्कृति या धर्म का सत्य है जिसके उद्देश्यों का पूरा करन का दायित्व शिक्षा पर डाला गया था। जिस युग मे पूर्वनिश्चित आदश हा उसम शिक्षा एक स्वायत्त प्रक्रिया नही हा सकती। रूढ़िगत बन्धनो क विघटित होने के समय विकसित शिक्षा प्रक्रिया द्वारा ही एसी निजी जिम्मेदारी पैदा की जा सकती है जो अपने निर्णयो के लिए समाज, धर्म, सस्कृति आदि किसी वाह्य सत्ता पर आधारित न हो बल्कि जो निरन्तर वर्तमान अस्तित्व क सम्मुख अपने को अकेला और जिम्मेदार महसूस करे।

सामान्यतया शिक्षा के बारे मे 'क्या' और 'किधर' के सवाल उठाये जाते रहे हैं। बूबर की राय मे इन प्रश्नो के निश्चित उत्तर नही दिए जा सकते। इन प्रश्नो के निश्चित उत्तर उन्ही युगो मे दिए जा सकते थे जो किन्ही निश्चित आदर्शों की मान्यता वाले युग थे तथा जिनके आधार पर सस्कृति का निर्माण होता था। लेकिन एक ऐसे युग मे जब सभी आदर्श ध्वस्त हो रहे हो और मानवीय वस्तु को कोई रूपाकार न मिल पा रहा हो तब जो एक मात्र रूप बच रहता है, वह ईश्वर का है। बूबर के अनुसार केवल ईश्वर ही स्रष्टा हो सकता है लेकिन मनुष्य यह कर सकता है कि वह अपने को और दूसरो को उस परम-स्रष्टा के सम्मुख खोल दे कि मनुष्य मे उसका बिम्ब परिपूर्ण हो सके।

होने का आनन्द : जिद्दू कृष्णमूर्ति

"हम बासी लोग हैं। जो कुछ हम बताया गया है उसी के अनुसार हम जिये हैं—या तो अपने रुझानो, प्रवृत्तियो से निर्देशित अथवा परिस्थितियो और परिवेश से विवश। हम सभी प्रकार के प्रभावो का परिणाम हैं और हममे कुछ भी नया नही है—कुछ भी तो नही जो हमने स्वय अपने लिए तलाश किया हो, कुछ नही जो मौलिक, आदिम, स्पष्ट हो।"

जिद्दू कृष्णमूर्ति की असल चिन्ता यही है कि मनुष्य अपने वास्तविक 'स्व' की पहचान और सिद्धि कैसे करे क्योकि आज वह केवल आदतो और पूर्वाग्रहो का एक बण्डल है—मानसिक और सामाजिक, निजी और सस्थागत आदतो—पूर्वाग्रहो का बण्डल। इसीलिए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि हम बासी लोग हैं— 'वी आर सैकेण्डहैंड पीपुल'। दुनिया की सारी समस्याए हिंसा, असमानता, शोषण के सभी प्रकार इसी एक स्थिति के परिणाम हैं। अपने वास्तविक 'स्व' को पहचाने बिना हम लोग अपने को असुरक्षित अनुभव करते हैं और असुरक्षा का यह बोध हमे भौतिक साधनो, सामाजिक-राजनीतिक सस्थाओ और साम्प्रदायिक सगठनो के प्रति समर्पण मे ही सुरक्षा का आभास करवाता है। अपने आप न हो सकने की कुण्ठा हममे तनाव, आक्रामकता और घृणा पैदा करती है जो आज की दुनिया की मुख्य समस्याए हैं। इसलिए कृष्णमूर्ति के लिए सभी समस्याओ का मूल कारण है व्यक्ति का अपने वास्तविक 'स्व' को न पहचान पाना।

लेकिन यह वास्तविक 'स्व' है क्या? अनादि काल से दर्शन इसी सवाल का उत्तर तलाशता रहा है। कृष्णमूर्ति इसका कोई उत्तर नही देते क्योकि इसकी कोई निश्चित परिभाषा नही हो सकती। प्रत्येक परिभाषा अन्तत एक बौद्धिक पूर्वाग्रह हो जाती है जो धीरे धीरे हमारे सस्कारो म घुलकर एक आदत बन जाती है। कृष्णमूर्ति तो उन चिन्तको म हैं जो प्रत्येक बौद्धिक निष्कर्ष और आदत को 'स्व' की वास्तविक पहचान मे सबस बडी बाधा मानते हैं क्योकि कोई भी पूर्व-निर्धारित बौद्धिक धारणा या आदत हम मौलिक नही होने देती। वह हमारी मूल पहचान पर पडा एक पर्दा हो जाती है। चाहे कितना ही झीना सही, पर्दे का होना

'स्व' की पहचान को धुंधला करता ही है। इसलिए कृष्णमूर्ति 'स्व' की कोई परिभाषा नहीं करते। होने का वास्तविक बोध ही 'स्व' का बोध है जिसके लिए सभी बौद्धिक, भावनात्मक और सामाजिक आदतों—पूर्वाग्रहों से परे होना होता है। यहां आधुनिक अस्तित्ववादियों और कृष्णमूर्ति के बीच एक समानता देखी जा सकती है। अस्तित्ववाद भी मनुष्य की कोई परिभाषा नहीं करता, उसके अनुसार भी मनुष्य का होना प्राथमिक है, कोई पूर्वनिर्धारित परिभाषा उस पर नहीं थोपी जा सकती। लेकिन यह समानता भ्रामक है। अस्तित्ववाद भी मनुष्य के होने के अनुभव पर बल देता है लेकिन वहां होने का प्रमाण है निजता की, निजत्व की अनुभूति। इसीलिए विभिन्न निजताओं के बीच संघर्ष वहां अवश्यम्भावी है। स्वतन्त्रता इसीलिए वहां आनन्द का नहीं, तनाव का, परिताप (एंग्विश) का कारण बनती है। लेकिन कृष्णमूर्ति तो निजता या निजत्व के आग्रह को भी व्यक्ति के वास्तविक 'स्व' पर, वास्तविक होने पर पड़ा एक पर्दा ही मानते हैं जिसके हटने पर ही होने का प्रामाणिक बोध सम्भव है। कृष्णमूर्ति का मनुष्य एक व्यक्ति है, उसका होना ही उसका व्यक्तित्व है, इसलिए होने के बोध के अतिरिक्त सभी आग्रह आदत या पूर्वनिर्धारित घटनाएं हैं—निजता की धारणा भी और इसी कारण विभिन्न व्यक्तियों के बीच कोई तनाव या संघर्ष नहीं है क्योंकि होने के साथ निजत्व का आग्रह कहीं जुड़ा नहीं है। सत्ता, अधिकार, ईर्ष्या और घृणा—सब निजता के इस आग्रह से ही तो उत्पन्न होते हैं।

कृष्णमूर्ति होने के बोध का प्रभाव तनाव और परिताप में नहीं बल्कि आनन्द और प्रेम के अनुभव में मानते हैं। होने का वास्तविक बोध एक आनन्द का अनुभव करवाता है। वहां परिताप नहीं है क्योंकि किसी का भी होना अपने आप में एक आनन्द है, वह किसी अन्य के लिए बाधक नहीं बल्कि सहजीवी है और इस आनन्द से फूटती है प्रेम की अनुभूति क्योंकि आनन्द तभी आनन्द है जब दूसरे का होना उसके अनुभव में वृद्धि करे—अन्यथा वह लिप्साजन्य सुख है और लिप्सा केवल होने में नहीं, अधिकार भाव में पोषित होती है। इसीलिए कृष्णमूर्ति का आग्रह प्रेम के अनुभव पर है—किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम के अनुभव पर नहीं बल्कि होने मात्र के सृष्टि भाव के प्रति प्रेम के अनुभव पर जो निश्छल, निष्कलुष आनन्द को और उज्ज्वल करता है उसे और सजनात्मक बनाता है।

स्वतन्त्रता पर कृष्णमूर्ति का आग्रह इसीलिए है कि परतन्त्र व्यक्ति न अपने होने का वास्तविक बोध कर सकता है और न आनन्द और प्रेम का अनुभव—और यहां यह स्मरणीय है कि हमारे सभी बौद्धिक नैतिक पूर्वाग्रह और सामाजिक संस्थाएं—आदतें आदि हमें किसी न किसी सीमा तक परतन्त्र करते हैं क्योंकि वे हमसे पूर्वनिर्धारित स्वीकारोक्ति चाहते हैं। इसीलिए स्वतन्त्रता कृष्णमूर्ति के

लिए कोई आदर्श नहीं है—आदर्श भी अन्ततः एक पूर्वाग्रह ही है—बल्कि वह एक अनिवार्य परिस्थिति है जिसके बिना मनुष्य होने का वास्तविक बोध नहीं कर सकता। इसीलिए कृष्णमूर्ति कहते हैं कि स्वतन्त्रता कोई लक्ष्य नहीं है। स्वतन्त्रता तो प्रारम्भ में ही है, अन्त में नहीं, वह कोई सुदूर स्थित आदर्श में प्राप्य नहीं है। स्वतन्त्रता एक प्रारम्भिक परिस्थिति है जिसके बिना होने की समग्रता का बोध सम्भव नहीं है और इस बोध का अभाव ही दुनिया की सभी समस्याओं के मूल में है। इसलिए कृष्णमूर्ति के अनुसार शिक्षा भी 'स्व' की पहचान ही है क्योंकि 'हम में से प्रत्येक में समग्र सत्ता एकत्रित है।' कृष्णमूर्ति वर्तमान शिक्षा-पद्धति को इस पहचान की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं क्योंकि शिक्षा का अर्थ आज किताबों या अन्य ज्ञान-भण्डारों से सूचना और ज्ञान प्राप्त करना है जो प्रत्येक समझदार व्यक्ति कर सकता है। यह शिक्षा-प्रणाली हमें अपने वास्तविक होने से दूर ले जाती है और इस कारण सभी व्यक्तियों, संस्थाओं और वस्तुओं के साथ हम शुरू से ही सम्बन्धों के एक जाल में फँस जाते हैं। कृष्णमूर्ति अपने लेख 'शिक्षा का सही रूप' में कहते हैं कि आज की शिक्षा पूर्णतः असफल है क्योंकि यह तकनीकी पर अतिरिक्त बल देती है। तकनीकी ज्ञान हमारी विशेष प्रकार की कुछ समस्याओं को सुलझाता है लेकिन उस पर अतिरिक्त बल देना मनुष्य को नष्ट कर देना है। जीवन की समग्रता और उसकी प्रक्रिया के बोध के बिना तकनीकी कौशल और निपुणता हमें और अधिक असुरक्षित और दुःखी करती है। अपने हृदय में प्रेम के बिना अणु-विखंडन का कौशल जानने वाला व्यक्ति अतिक्रूर दैत्य हो जाता है।

इसलिए वास्तविक शिक्षा वह है जो तकनीकी कौशल देने के साथ-साथ जीवन की समग्रता को समझने में मनुष्य की सहायता करे। कई बार हम शिक्षा को बच्चों के मन में हमारे आदर्शों को रोपने का एक माध्यम बना लेते हैं—और यह अधिकांशतः शुभाशंसा के साथ किया जा सकता है। लेकिन कृष्णमूर्ति मानते हैं कि जब हम आदर्शों का आग्रह करते हैं तो हमारा सम्बन्ध जीवित और प्रत्यक्ष सत्ता से हटकर उस विचार से हो जाता है जिसे, हमारे अनुसार सभी को स्वीकार कर लेना चाहिए। 'है' से अधिक महत्त्वपूर्ण 'होना चाहिए' हो जाता है। इसलिए शिक्षक और शिक्षा की प्रक्रिया को इस बात के प्रति सावधानी बरतनी होगी कि कहीं शिक्षा के नाम पर हम अपने पूर्वाग्रहों और अवधारणाओं को बच्चे के मन में रोप कर उसकी स्वतन्त्रता को नष्ट न कर दें। यदि हमारी शिक्षा सम्भी प्रक्रिया में स्वतन्त्रता के अनुभव को खंडित करने वाली होगी तो उससे स्वतन्त्र व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं हो सकेगा। इसलिए महत्तम तकनीकी प्रशिक्षण और अध्यापन की वैज्ञानिक विधियों से अधिक आवश्यक है शिक्षण-प्रक्रिया में उस स्वातन्त्र्य के बोध का समावेश जो प्रत्येक व्यक्ति और

जीवन की समग्रता के बोध की अनिवार्य परिस्थिति है।

लेकिन ऐसा तभी सम्भव है जब हम मे दूसरे के प्रति प्रेम और वास्तविक आदर का भाव हो क्योकि प्रेम के बिना अपने स इतर की वास्तविक समझ सम्भव नही है। प्रेम हमे इस योग्य बनाता है कि हम दूसरे को समझ सकें और उसकी अपनी पहचान मे सहायक हो सकें। इसलिए शिक्षा-प्रक्रिया मे प्रेम के बोध का समावेश भी एक अनिवार्यता है। प्रेम—व्यक्ति विशेष के प्रति निजी प्रेम नही बल्कि सार्वभौम प्रेम—हमे दूसरे के होने का, उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सम्मान करना सिखाता है क्योकि उसके बिना अपने होने की स्वतन्त्रता का अनुभव भी प्रामाणिक नही रहता। जब तक हमारा होना दूसरे के हमारे अनुकूल होने की धारणा पर आधारित है, तब तक वह होना भी प्रामाणिक नही है।

हमारी शिक्षा-व्यवस्था की एक बडी कमजोरी यह है कि वह हम एक समग्र मनुष्य नही बनाती। यह हम मूलत एक व्यवसायी बनाती है—एक डॉक्टर, इजीनियर, वैज्ञानिक, प्रबन्धक या अन्य कोई विशेषज्ञ। सारी शैक्षिक प्रक्रिया और प्रशिक्षण इसी ओर उन्मुख है। इसका नतीजा होता है कि जीवन के साथ हमारा एकपक्षीय और तर्काश्रित सम्बन्ध रहता है। जीवन की हमारे लिए एक सम्मत युक्तिसत्य या तर्कसगत अवधारणा तो चाहे रहे पर उसके साथ हमारा जीवन्त और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता। जीवन केवल व्यवसाय नही है। जीवन इतना विशाल और अनन्त आयामी है कि उस किसी अवधारणा मे नही बाधा जा सकता, इसलिए अवधारणापरक ज्ञान पर आधारित शिक्षा चाहे वह विशिष्ट क्षेत्र मे कितना ही तकनीकी कौशल प्रदान करती हो, हमे कभी वास्तविक ज्ञान नही दे पाती जिसके अभाव मे हमारा ज्ञान या तो किन्ही पूर्वाग्रहो द्वारा इस्तेमाल होन लगता है या पगु बन जाता है। कृष्णमूर्ति के शब्दो मे, 'शिक्षा का सबसे बडा कार्य एक ऐसे समग्र व्यक्ति का विकास है जो जीवन की समग्रता को पहचान सके। आदर्शवादी और विशेषज्ञ दोनो ही समग्र से नही, खड से जुडे होते हैं। जब तक हम किसी एक ही प्रकार की कार्य-प्रणाली या दिशागतिकता का आग्रह नही छोडते तब तक समग्रता का बोध सम्भव नहीं है।'

स्वतन्त्रता के बोध को प्राथमिक महत्त्व देने के कारण स्वाभाविक है कि कृष्णमूर्ति अनुशासन की समस्या पर भी विस्तृत करते है। शिक्षा को अनुशासन की एक प्रक्रिया माना जाता है और अनुशासन से सामान्यतया हमारा तात्पर्य होता है वर्तमान व्यवस्था और नियम-कायदो का आदर। कृष्णमूर्ति इससे सहमत नही हैं। वह इस प्रकार के अनुशासन को शिक्षा के बुनियादी उद्देश्य के ही विपरीत मानते हैं। उनके अनुसार बालक म शास्त्रो, वर्तमान सामाजिक मूल्यो, परम्पराओ, राज्यतन्त्रो, धार्मिक विश्वासो आदि पर प्रश्नचिह्न लगाने की

प्रवृत्ति को उत्साहित किया जाना चाहिए। सम्भव है कि बालक म कुछ असन्तोष पैदा हो लकिन इस अस तोष स डरने का कोई कारण नही है क्योंकि यह असन्तोष आत्म-ज्ञान की ओर ले जाएगा और उसस एक नयी व्यवस्था स्वत विकसित होगी। अन्ताष स्वतन्त्रता का माध्यम है, लकिन यह असन्ताष शुद्ध जिज्ञासामूलक होना चाहिए, किसी तरह का भावुकतापूर्ण आग्रह नही जो अन्तत किसी-न किसी व्यक्ति या सगठन की शरण म ले जाता हो और इस प्रकार स्वतन्त्रता का दमन कर देता है।

इसलिए कृष्णमूर्ति शिक्षा का प्रथम काय यह मानत हैं कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मानसिक प्रक्रिया को समझने म मदद करे। कैसे उसक विचारो, प्रवृत्तियों और आचरण पर पारिवारिक या सामाजिक-साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहो का प्रभाव पडता है तथा बात उसकी सवेदना, विचार और आचरण का किस प्रकार प्रभावित करती है, आदि प्रक्रियाओ की अर्थात् अपने मन की बनावट और उसकी प्रक्रिया की सम्यक् जानकारी उस होनी चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब शिक्षा हम अपन मन का देखना सिखाय। पर आज दूर-दूर तक शिक्षा का यह उद्देश्य नही दिखता—बल्कि भरसक वह हम अपन स इतना बाहर ल जाती है कि अपन म झांकन की प्रवृत्ति ही नही बचन पाती। सामाजिक वातावरण भी इसम शिक्षा की मदद ही करता है—बल्कि शायद उसी के कारण शिक्षा न भी आत्मान्वेषण का अपन काय-क्षेत्र स निकाल बाहर किया है। कृष्णमूर्ति के शब्दो म, 'शिक्षा का उद्देश्य है सही रिश्तो की स्थापना, कवल व्यक्तियो के बीच ही नही बल्कि व्यक्ति और समाज के बीच भी, और इसीलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा सबस पहल अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने म व्यक्ति की सहायक हो।"

लकिन कृष्णमूर्ति भी मानत हैं कि केवल शिक्षा ही नही बल्कि हमारा सामाजिक सगठन भी व्यक्ति को स्वतन्त्रता और समग्रता के बोध की ओर नही ल जाता। इसलिए न केवल अध्यापक का, और स्कूल अध्यापक को बदलना है बल्कि माता पिता का भी यह समझना होगा कि उन्ह भी अपने घर और स्कूल को सही शिक्षा क उद्देश्य से बदलने के लिए तत्पर होना है। मैं यह भी जोड दू कि गैर-सरकारी और सरकारी मीडिया को भी इस ओर अपने उत्तरदायित्व स अनदेखी नही करनी चाहिए क्योंकि वह अपने म इतना ताकतवर माध्यम है कि घर और स्कूल दोना को पराजित कर सकता है।

महात्मा गाधी : अहिसा का आग्रह

आधुनिक विचारको के साथ एक ऐसे व्यक्ति को श्रेणीबद्ध करना बहुत-से लोगो को एक अन्तर्विरोध लग सकता है जिसने आधुनिकता की बाबत पूछे जाने पर एक व्यग्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ कहा हो कि यह एक दिलचस्प विचार है—'इट इज एन इटेरेस्टिंग आइडिया'। डॉ० राधाकृष्णन् की पुस्तक 'एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ' के प्रकाशित होने पर सी० ई० एम० जोड ने उसे पश्चिम पर पूर्व का प्रत्याक्रमण कहा था। महात्मा गाधी (1869-1948) के चिन्तन को भी हम इसी तर्ज पर 'आधुनिकता पर सनातनता का प्रत्याक्रमण' कह सकते हैं—बल्कि 'प्रत्याक्रमण' शब्द मे ध्वनित हिंसा-भाव से बचने और गाधीजी के विचारो की आत्मा को ठीक तरह से व्याख्यायित करने की दृष्टि से इसे 'आधुनिकता के सम्मुख सनातनता का सत्याग्रह' कहना अधिक सगत होगा।

'सत्य का आग्रह'—गाधीजी के सम्पूर्ण चिन्तन और कर्म की केन्द्रीय विषयवस्तु है और यह 'सत्य' कोई जटिल दार्शनिक अवधारणा नही है—क्योकि गाधीजी शास्त्रीय दार्शनिक पद्धतियो की अधिक चिन्ता नही करते थे—बल्कि एक सीधी-सादी व्यावहारिक बात है। जब गाधीजी 'ईश्वर सत्य है' की बजाय 'सत्य ईश्वर है' कहते है तब भी वह किसी दार्शनिक बहस मे उलझने की बजाय एक आध्यात्मिक ईश्वरानुभूति के व्यावहारिक रूप पर ही, उसके कर्मपक्ष पर ही जोर देना चाहते हैं क्योकि उनके लिए कर्म या व्यवहार ही चिन्तन और अनुभूति का उत्स भी है और कसौटी या परख भी। इसी कारण जब महात्मा गाधी अपने जीवन को 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' कहते हैं, तब वह प्रकारान्तर से ईश्वर-प्राप्ति के लिए उनकी अनवरत साधना हो जाती है क्योकि उन्ही के शब्दो मे—'ईश्वर की असख्य परिभाषाए हैं, क्योंकि उसके रूप भी असख्य हैं। वे मुझे विस्मय और भय से विह्वल कर देते हैं और पल भर के लिए मैं स्तम्भित हो जाता हू। पर मैं सत्य के रूप मे ही ईश्वर की पूजा करता हू। मैं अभी तक उसे पा नही सका हू, अभी भी मुझे उसकी तलाश है।' लेकिन साथ ही वह यह भी जोड देते हैं, "सत्य का पूर्णत प्राप्त कर लेना अपने-आप

को ओर अपनी नियति को उपलब्ध कर लेना है, अर्थात् सर्वसम्पूर्ण हो जाना है। मैं तो अपनी-अपनी अपूर्णताओं को जानता हूँ और इसी में मेरी सारी शक्ति निहित है।''

दार्शनिक जटिलताओं की बजाय ईश्वरत्व की अवधारणा अर्थात् सत्य की सकल्पना के व्यावहारिक पहलू पर आग्रह की ही वजह से गांधीजी कहते हैं कि—'मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और नैतिकता है, ईश्वर निर्भयता है, ईश्वर जीवन और आलोक का स्रोत है'' ईश्वर अन्तरात्मा है।' और इस ईश्वर को पाने का एक ही उपाय है कि—'उसे उसकी सृष्टि में देखा और उसके साथ एकाकार हुआ जाए।'

गांधीजी के सत्य-चिन्तन का व्यावहारिक पहलू इसीलिए अहिंसा के रूप में अभिव्यक्ति पाता है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ अहिंसात्मक मनोवृत्ति और आचरण ही हमें उसके साथ अर्थात् ईश्वर के साथ एक करता है। वह स्वयं कहते हैं—''जब आप सत्य को ईश्वर-रूप में पाना चाहते हैं, तो एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम, अर्थात् अहिंसा है। और क्योंकि मैं मानता हूँ कि साधन और साध्य पर्यायवाची हैं, अतः मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि ईश्वर प्रेम है।''

गांधीजी की ये दार्शनिक प्रस्थापनाएं ही उनके सामाजिक चिन्तन का विन्यास करती हैं। सत्य अहिंसा के रूप में अभिव्यजित होता है, अतः एक आदर्श समाज व्यवस्था और उसके प्रत्येक व्यक्ति सदस्य के आचरण की कसौटी भी अहिंसा ही हो सकती है—स्थूल और नकारात्मक अर्थों में नहीं बल्कि सूक्ष्म और सकारात्मक अर्थों में। इसीलिए गांधीजी किसी भी प्रकार की पराधीनता को—चाहे उसका रूप राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या मनोवैज्ञानिक कुछ भी हो—अनुचित और अन्यायपूर्ण मानते हैं क्योंकि वह किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा पर टिकी होती है और हिंसक मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है। किसी भी प्रकार का राजनीतिक दमन, सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण—चाहे वह मनुष्य का हो या प्रकृति का—गांधीजी के अनुसार हिंसा के ही विभिन्न रूप हैं और इसीलिए वह उनके खिलाफ सत्याग्रह अर्थात् अहिंसा का आग्रह करते हैं। इसी कारण एक ओर गांधीजी केन्द्रीकृत आर्थिक व्यवस्था और आधुनिक प्रौद्योगिकी को हिंसक मानकर त्यागने का आग्रह करते हैं क्योंकि वह अनिवार्यतया मनुष्य और प्रकृति के अन्यायपूर्ण दोहन पर आधारित है तो दूसरी ओर केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था को भी हिंसक मानते हैं क्योंकि वह अनिवार्यतया नागरिक को राजतन्त्र के सम्मुख असहाय बनाती और उसकी स्वतन्त्रता का दमन करती है।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि गांधीजी एक ऐसी समाज-व्यवस्था की

कल्पना करते हैं जिसमें सत्ता के किसी भी रूप का केन्द्रीकरण न हो क्योंकि केन्द्रीकरण अनिवार्यतः हिंसा की मनोवृत्ति को बढ़ाता है। इसीलिए गांधीजी की समाज-व्यवस्था की आदर्श इकाई आत्म-निर्भर गांव है—इसी को राजनीति और अर्थशास्त्र की भाषा में राजनीतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण कहा जाता है। आत्म निर्भर या स्वावलम्बी गांव ही एक आत्मनिर्भर और अहिंसक राष्ट्र का आधार हो सकता है क्योंकि हिंसा की जरूरत भी तभी पड़ती है जब हम किसी अन्य पर अनिवार्यतया आश्रित हों। लेकिन जाहिर है कि एक अहिंसक समाज और आत्मनिर्भर गांव के लिए हमें अहिंसक आचरण वाले आत्मनिर्भर या स्वावलम्बी व्यक्ति की आवश्यकता होगी।

एक अहिंसक समाज के लिए अहिंसक स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण—गांधीजी का सम्पूर्ण शिक्षा-दर्शन इसी उद्देश्य को विन्यस्त करता है। जिसे हम 'बुनियादी शिक्षा' या 'नयी तालीम' के नाम से जानते हैं, उसका प्रमुख उद्देश्य चिन्तन, अनुभूति और कर्म में एक अहिंसक व्यक्ति का निर्माण करना है। सामान्यतः बुनियादी शिक्षा को 'लर्निंग बाइ डूइंग' या 'करके सीखो' तक सीमित कर उसे कुछ दस्तकारियों आदि की शिक्षा मान लिया जाता है। निश्चय ही वह आजीविका कौशल की भी शिक्षा है जो कि हर शिक्षा-पद्धति को निश्चय ही होना चाहिए—लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य एक ऐसे स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण करना है जिसका अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ—प्राकृतिक और मानवीय दोनों तरह के परिवेश के साथ—अहिंसात्मक और सर्जनात्मक रिश्ता हो। गांधीजी की शिक्षा-प्रक्रिया का उद्देश्य आत्मनिर्भर व्यक्ति का विकास है, अतः यह जरूरी है कि उसकी प्रक्रिया भी आत्मनिर्भर हो अर्थात् शिक्षार्थी की शिक्षा का व्यय-भार वह स्वयं उठा सके। साधन और साध्य यदि एक हैं तो आत्म-निर्भर व्यक्ति और समाज का साध्य निश्चित करने वाली शिक्षा को अपनी प्रक्रिया में भी अहिंसक और आत्मनिर्भर होना होगा।

गांधीजी के शिक्षा चिन्तन को आजकल आधुनिक प्रौद्योगिकी और जटिल विज्ञान से आतंकित समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों और शिक्षा शास्त्रियों द्वारा एक खब्त की तरह ही लिया जाता है। बुनियादी शिक्षा के प्रयोग को व्यापक समाज के लिए असफल मान लिया गया है और अब केवल कुछ गांधीवादी संस्थाओं द्वारा ही उसे एक कर्मकाण्ड की तरह किया जा रहा है—समाज में प्रचलित और स्वीकृत शिक्षा-संस्थाएं सामान्य तौर पर उससे अपने को अलग ही रखे हुए हैं। लेकिन यहां यह विचारणीय है कि कोई भी शिक्षा-पद्धति तभी सफल हो सकती है जब हम उसकी पृष्ठभूमि में काम कर रहे तत्त्व-दर्शन और मूल्य-दर्शन के अनुरूप समाज-रचना करना चाहें। दुर्भाग्य से हम स्वतन्त्रता प्राप्त

करने के बाद जिस सामाजिक ढांचे की ओर आकर्षित होते गए हैं, वह एक हिंसक मनोवृत्ति वाले समाज का ढांचा है जो राज्यसत्ता और अर्थसत्ता के केन्द्रीकरण पर टिका है तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आश्रित होने की वजह से प्रकृति और परिवेश के साथ मूलतः हिंसक मनोवृत्ति रखता तथा मनुष्य को असहाय बनाता और उसकी स्वनिर्भरता का दमन करता है। गांधीजी के शिक्षा-चिन्तन की सार्थकता तभी समझ में आ सकती है जब हम एक अहिंसक और आत्मनिर्भर समाज और व्यक्ति के विकास का लक्ष्य सामने रखकर चलें और केवल शिक्षा-प्रक्रिया को ही नहीं, अपनी राजनीतिक आर्थिक सस्थाओं और व्यवहार को भी तदनुसार रूपान्तरित करने का 'सत्याग्रह' करें। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुमाकर का यह कथन विचारणीय है कि 'हम दरअसल एक तत्त्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्त्वमीमांसीय होना चाहिए।' गांधीजी का चिन्तन हमारे इस रोग का सही निदान और इलाज बताता है और यह कहना शायद अब जरूरी नहीं है कि रोग के कारणों को मिटाये बिना कोई उपचार सफल नहीं हो सकता।

प्रौढ़ शिक्षा : सार्थकता की तलाश

प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम के महत्व और निरक्षरता उन्मूलन की सार्थकता को अब तो इस तरह स्वयसिद्ध मानकर चला जा रहा है कि सिक्के के दूसरे पहलू की ओर ध्यान देना भी सभव नही रहता। पिछले कुछ वर्षों मे अधिक-से-अधिक विचार यही किया गया है कि इस कार्यक्रम को विकास योजनाओ और कार्यक्रमों के साथ कैसे जोडा जाय। यह मान लिया गया है कि यदि प्रौढ शिक्षा या साक्षरता कार्यक्रम को किसी काम-धधे और विकास प्रक्रिया के साथ जोडने मे सफलता प्राप्त हो जाती है तो उससे अधिक श्रेयष्कर कुछ नही हो सकता। साक्षरता कार्यक्रम को क्रियात्मक बनाया जाय, उसे विकास की प्रक्रिया के साथ जोडा जाय, इसमे कोई आपत्ति नही हो सकती लेकिन इस दृष्टि पर आवश्यकता से अधिक बल देना और इसके साथ जुडे अन्य खतरो की अवहेलना करना कुछ ऐसी नयी समस्याए पैदा कर सकता है जिनसे उबर पाना और भी अधिक मुश्किल होगा। अत जरूरी है कि प्रौढ शिक्षा कार्यक्रमो को लागू करने से पहले उन सभी बातो पर ठीक तरह से विचार कर लिया जाय।

हमारे यहा शिक्षा के महत्व को बढा-चढा कर आकने मे इस बात की पूर्ण अनदेखी की जाती रही है कि सामाजिक भेदभाव, शोषण, दमन और भ्रष्टाचार को पनपाने वाला वर्ग मुख्यत शिक्षित वर्ग है। शिक्षा के साथ यदि मूल्यबोध और सामाजिकता की भावना का विकास न हो तो वह शिक्षा व्यक्ति को अकेला, स्वार्थी और धीरे-धीरे सहानुभूतिहीन करने लगती है। कहा जा सकता है कि इसकी वजह शायद वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था का मूलत सामतवादी-पूजीवादी सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया के साथ जुडे होना है। लेकिन इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि केवल साक्षर या कथित शिक्षित हो जाना न तो व्यक्ति को नैतिक और विवेकशील बनाता है और न समाज को ही। प्रौढ शिक्षा कार्यक्रम के लिए योजना-परियोजना बनाते समय इस तथ्य की अनदेखी नही की जानी चाहिए।

प्रौढ शिक्षा की जरूरत किस वर्ग को है? उसकी सामाजिक, आर्थिक और

सांस्कृतिक परिस्थितियां क्या हैं? क्या अभी तक यही नहीं होता रहा है कि अधिकांशतः इन बातों पर विचार किये बिना ही वातानुकूलित कमरों में बैठकर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम तैयार किये जाते रहे हैं और इसीलिए उनकी सामाजिक प्रासंगिकता भी सही परिप्रेक्ष्य में नहीं उभर पायी है। हमारे समाज में निरक्षर समुदाय वह वर्ग है जो सदियों से शोषण, दमन और उत्पीड़न का शिकार रहा है। यदि साक्षरता कार्यक्रम के स्वरूप और क्रियान्वयन के लिए पहले से ही इस ओर ध्यान न दिया जाय तो बड़ी आसानी से इस कार्यक्रम को शोषण का एक नया सूक्ष्म उपकरण बनाया जा सकता है। प्रौढ़ साक्षरता पर किये गये अध्ययन में यह बात पता चली है कि एक निरक्षर और एक साक्षर मजदूर की कार्यकुशलता और उत्पादन-क्षमता में काफी अन्तर होता है। आधुनिक शोध कार्यों की उपयोगिता से परिचित कारखानेदार इसके महत्व को समझते हुए अपने मजदूरों में साक्षरता के प्रसार में रुचि लेने लगे हैं ताकि उनकी उत्पादन-क्षमता को बढ़ाया जा सके। यह कोई बुरा उद्देश्य नहीं है लेकिन यदि इससे होने वाले लाभ का उचित अंश मजदूर को नहीं मिलता है—जो कि वास्तव में नहीं मिलता है—तो यह उत्पादन-वृद्धि मालिक को ही लाभ पहुंचायेगी, उस मजदूर को नहीं जिसके साक्षर होने की वजह से यह वृद्धि सम्भव हो सकी है। इसी तरह यह भी देखा गया है कि नव साक्षर हो जाने वाला वर्ग अपनी साक्षरता का उपयोग अधिकांशतः सेक्स और अपराध-कथाओं को पढ़ने में करता रहा है। समाज में साक्षरता के प्रसार के साथ-साथ अखबारों और अच्छी पुस्तकों के प्रसार की बजाय अश्लील और अपराध कथाओं वाली पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार में आशातीत वृद्धि हो रही है—यहां तक कि केवल शहरी इलाकों में ही नहीं, ग्रामीण इलाकों के बस अड्डों आदि पर बिकने वाली किताबों और पत्र-पत्रिकाओं में भी यही प्रवृत्ति दिख रही है। दूसरे शब्दों में नवसाक्षर होने वाला वर्ग चाहे वह औपचारिक शिक्षा का साक्षर हो या अनौपचारिक शिक्षा का, इस तरह एक ओर अपने पारम्परिक लोक-साहित्य से विमुख होता जा रहा है तो दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था की विकृत बाजारू प्रवृत्तियों का शिकार होता जा रहा है। स्पष्ट है कि साक्षरता कार्यक्रमों को भी इस मामले में पूरी तरह दोषमुक्त नहीं समझा जा सकता। इस तरह के कई उदाहरण अन्य सामाजिक व्यवहार से भी दिये जा सकते हैं। इसलिए भारतीय सन्दर्भ में प्रौढ़ शिक्षा या साक्षरता कार्यक्रम की सार्थकता यही हो सकती है कि वह सदियों से दलित, शोषित और उत्पीड़ित व्यक्ति और समाज की मुक्ति की प्रक्रिया बने। विकास का भी सही तात्पर्य यही है। इस सम्बन्ध में हमारे समय के क्रान्तिकारी प्रौढ़ शिक्षाविद् जूलियस न्येरेरे (तंजानिया के राष्ट्रपति) के विचार स्पष्ट और प्रामाणिक हैं 'विकास का उद्देश्य है मनुष्य की मुक्ति। तीसरी दुनिया में हम

लोग आर्थिक विकास के संदर्भ मे वस्तुओ और सुविधाओ की संख्या और उसके उत्पादन के विस्तार की बहुत बात करते हैं। लेकिन वस्तुओ की जरूरत मनुष्य के लिए है : सदैव हमे मनुष्य की ओर लौटना है—मुक्त मनुष्य तक'''लेकिन मनुष्य स्वय ही अपने को मुक्त या विकसित कर सकता है। वह किसी दूसरे के द्वारा मुक्त या विकसित नही किया जा सकता क्योकि वह स्वय ही अपना निर्माण करता है। एक स्वनिर्णीत उद्देश्य के लिए विचारपूर्वक कार्य कर सकने की क्षमता ही उसे अन्य प्राणियो से विलग करती है। अत विकास का अन्तिम तात्पर्य उसकी चेतना का विस्तार है। इसलिए विकास मनुष्य के लिए मनुष्य द्वारा और मनुष्य का है। यही बात शिक्षा के बारे म सच है।'' शिक्षा को मनुष्य की भौतिक और मानसिक स्वतत्रता मे वृद्धि करनी होती है। इसलिए शिक्षा द्वारा प्रदत्त या प्रेरित विचार मुक्तिदायक विचार होने चाहिए अन्य कुछ भी शिक्षा नही कहा जा सकता। गुलाम मानसिकता या नपुसकता के भाव को उत्पन्न करने वाला शिक्षण किसी भी तरह शिक्षा नही कहा जा सकता। वह मनुष्यो के मन-मस्तिष्क पर आक्रमण है।' इससे स्पष्ट है कि प्रौढ शिक्षा और विकास को यदि जोडना है तो दोनो के बारे म मानवीय सन्दर्भ मे विचार करना होगा—और यह कार्यक्रम हमारे समाज म चलाया जाना है, इसलिए इस मानवीय सदर्भ को देश-कालगत परिप्रेक्ष्य मे देखना समझना होगा। इसलिए पौढ शिक्षा कार्यक्रम को बाजारू सस्कृति के सामाजिक मनोवैज्ञानिक परिणामों और हर प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीडन के विरुद्ध तक प्रत्याक्रमण की भूमिका अदा करनी होगी—शिक्षा के मोर्चे पर एक प्रत्याक्रमण की भूमिका। यदि प्रौढ शिक्षा ऐसा कर सकती तो हमारे जैसे समाज मे उसकी कोई आत्यतिक सार्थकता नही हो सकती। पश्चिमी समाज मे फ्रेरे और हमारे अपने यहा गाधी ने कुछ हद तक इस दिशा म प्रयत्न किये भी है।

लेकिन इस प्रक्रिया म एक जोखिम और निहित है और यह जोखिम जितना सूक्ष्म है उतना ही खतरनाक भी। यह बहुत सम्भव है और ऐसा होता भी आया है—कि मनुष्य को मुक्ति के नाम पर किसी नयी भौतिक या मानसिक अस्वतन्त्रता मे डाल दिया जाय। प्रौढ शिक्षा का कार्य करने वाली सरकारी, गैर-सरकारी सस्थाओ और कार्यकर्त्ताओ की अपनी राजनैतिक विचारधारा और उद्देश्य हो सकते हैं, होते हैं। यह तय है—यदि हम उनकी नीयत पर सन्देह न करें तो भी—कि मनुष्य की मुक्ति की उनकी एक अपनी परिकल्पना होगी और प्रौढ शिक्षा के माध्यम से वे अपनी उस परिकल्पना को ही अपने शिक्षार्थी समुदाय तक प्रेषित करेंगे—न केवल इतना ही बल्कि यह भी सम्भव है कि अन्य दूसरे विचारो से या तो उस शिक्षार्थी समुदाय को परिचित ही न करवाया जाय अथवा उसके बारे मे भी प्रौढ शिक्षा कार्यकर्ता द्वारा अपने दृष्टिकोण से ही हर चीज को देखने पर बल

दिया जाय। यह प्रकारान्तर से शिक्षार्थी समुदाय का अपने दृष्टिकोण और कार्य-प्रणाली से मानसिक अनुकूलन है। कहा जा सकता है कि इसमें शिक्षार्थी को यह स्वतन्त्रता है—और यही प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य भी है—कि वह अपने स्वतन्त्र विवेक के आधार पर अपने लिए सही विचारधारा और कार्यप्रणाली का निर्णय करे। लेकिन उसमें अपने परिवेश की पूर्ण समझ और अन्य सब विचारों और कार्य प्रणालियों से पूर्ण परिचिति के विकास के पूर्व ही यदि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के नियन्ताओं का दृष्टिकोण उस पर इस तरह थोप दिया जाय कि वह उसे अपना ही निर्णय समझने लगे—और यह करना अब कोई मुश्किल काम नहीं रह गया है—तो यह न केवल अलोकतान्त्रिक होगा बल्कि शिक्षा की उस मूल धारणा और भावना के ही खिलाफ होगा जिसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रौढ़ शिक्षा कार्यकर्ता का काम यही हो सकता है कि वह तथ्यों की प्रामाणिकता को बनाये रखे और निर्णय कर सकने की बौद्धिक प्रक्रिया का विकास करने की चेष्टा ही करे। शिक्षार्थी समुदाय पर अपनी विचारधारा और कार्य प्रणाली थोपने की प्रक्रिया से बच पाना निश्चय ही उसके लिए कष्टकर तो है पर वांछनीय यही है।

इस प्रकार प्रौढ़ शिक्षा के आत्यंतिक प्रयोजन उसके कार्य क्षेत्र के पूरे विस्तार और उसकी प्रक्रिया में निहित जोखिम आदि का पूरा ध्यान रखते हुए कार्यक्रम बनाये और तत्परता से लागू किये जाएं तभी इसकी सार्थकता उजागर हो सकती है।

शिक्षा का बुनियादी प्रयोजन

शिक्षा की जितनी भी परिभाषाएं दी जाती रही हैं उन सभी में तत्वत एक बात समान है और वह यह कि उन सभी में शिक्षा को संस्कृति के साथ जोड़कर देखा गया है। शिक्षा की प्रक्रिया मूलत एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है क्योंकि उसका उद्देश्य संस्कृति का नैरन्तर्य और उसका परिष्करण एवं परिवर्द्धन है। 'एन साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसज' में शिक्षा की परिभाषा करते हुए उसे बालक के संस्कृति में प्रवेश की प्रक्रिया कहा गया है। इसलिए शिक्षा के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए उचित प्रक्रिया का निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि उसका अन्तर्सूत्र सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया से जुड़े।

संस्कृति मानवीय चेतना और व्यवहार का गुणात्मक उत्कर्ष है। अलग-अलग युगों या समाजों में उसकी अभिव्यक्ति के रूप और बलाघात भिन्न भिन्न हो सकते हैं लेकिन बुनियादी तौर पर वह मानवीय चेतना की सृजनशीलता का गुणात्मक विकास है। इसलिए शिक्षा की वही प्रक्रिया सही और सार्थक मानी जा सकती है जो मानवीय सृजनात्मकता के विकास में सहायक हो। सामान्यत जब मानवीय सृजनशीलता की बात की जाती है तो उसका तात्पर्य ललित कलाओं या साहित्य-रचना की प्रतिभा और कभी-कभी विज्ञान की आविष्कारक प्रतिभा से ही लिया जाता है। लेकिन मानवीय सृजनशीलता तो इससे कहीं अधिक व्यापक प्रवृत्ति है। कला, साहित्य या विज्ञान निश्चय ही इस सृजनात्मक प्रवृत्ति की विशिष्ट अभिव्यक्ति हैं लेकिन इस प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति या अभिरुचि न होने पर उसे सृजनशीलता का अभाव मानना एक भूल होगी।

मनुष्य यदि एक सृजनशील प्राणी है—जो कि वह है—तो उसकी इस सृजनशीलता की हर स्तर पर अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति कलाकार, लेखक या वैज्ञानिक आदि नहीं है तो भी वह सृजनशील हो सकता है। न केवल यह कि उसका प्रत्येक कर्म सृजन और प्रत्येक सामाजिक रिश्ता—

प्रेम, मैत्री रक्त एव भावनात्मक सम्बन्ध आदि—एक सृजनात्मक रिश्ता हो सकता है बल्कि अपने परिवेश—प्राकृतिक एव सामाजिक दोनो—के साथ भी उसका रिश्ता अनिवायत एक सृजनात्मक रिश्ता होना चाहिए। किसी भी व्यक्ति, जाति या समाज के सुसस्कृत होने की एक प्रमुख पहचान यही है कि उसके सभी रिश्तो और व्यवहार [redacted] इस सृजनात्मकता का कितना उत्कप होता है।

अधिकाशत शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना गया है जिसके द्वारा व्यक्ति को परिवेश के अनुकूल होने या उस पर नियन्त्रण करने के लिए तैयार किया जाता है। उससे आशा की जाती है कि वह सामाजिक परिवेश के अनुकूल हो और प्राकृतिक परिवेश पर नियन्त्रण रख सके। समाज शिक्षा-व्यवस्था से यही अपेक्षा करता है कि वह व्यक्ति को इन दोना उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्रदान करे। इसी प्रयोजन से शिक्षा की प्रक्रिया व्यावहारिक ज्ञान—अपनी विशिष्ट शाखाओ सहित—और मूल्य चेतना दोनो को अपने म समोने की कोशिश करती है।

सामान्य दृष्टि स देखने पर इसम कोई आपत्ति नही दिखाई देती और इसी कारण प्रारम्भ स ही शिक्षा के दो उपयुक्त प्रयोजन रहे है। प्राचीन युगो म शिक्षा को लेकर अधिक परेशानी नही थी तो इसका कारण यह था कि शिक्षा प्रक्रिया म निरन्तर परिवतन की आवश्यकता नही थी क्योकि सामाजिक परिवेश म बदलाव की गति बहुत धीमी और इसलिए अधिकाशत अलक्षित रहती थी तथा प्राकृतिक परिवेश की जानकारी सीमित थी और इसलिए उस पर नियन्त्रण के उपाय और उसे अपने लिए इस्तेमान कर सकने के तरीके भी बहुत सीमित थे। लेकिन आधुनिक समाजो म न केवल सामाजिक परिवतन की गति काफी तेज और तुरत पहचान मे आ सकने वाली है बल्कि प्राकृतिक परिवेश की जानकारी और उसे नियन्त्रित करने व इस्तेमाल कर सकने के उपायो के ज्ञान म भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। इन सब कारणो से उत्पन्न गतिशीलता के सम्मुख हमारी शिक्षा प्रक्रिया अधिकाशत पिछड जाती है और इस कारण शिक्षा और मानवीय विकास की प्रक्रियाओ म कोई सामजस्य नही बैठता दीखता।

लेकिन समस्या को इतना ही देखना अधूरा देखना है। पहले के जमाने की तुलना मे ज्ञान के प्रचार प्रसार के माध्यम भी बढते जा रहे हैं और अब सीखने के लिए किसी के पास निरन्तर जाते रहना अनिवाय नही रह गया है। प्रसार और सचार के आधुनिकतम साधनो के द्वारा किसी भी प्रकार की जानकारी और विचार ग्रहण करने की गति भी पहले की अपेक्षा अधिक बढी है और सामान्य जीवन पर इसके प्रत्यक्ष असर के कई स्पष्ट प्रमाण दिये जा सकते हैं। समय समय पर अल्पकालिक शिक्षण द्वारा भी जानकारी को निरन्तर बढाते रहा जा सकता है।

इसलिए शिक्षा की बुनियादी समस्या यह है कि वह व्यक्ति को अपने परिवेश—उसके प्राकृतिक और सामाजिक दोनो ही रूपो—के प्रति किस तरह का रिश्ता विकसित करने की प्रेरणा देती और उसके लिए आवश्यक मानसिक भूमि तैयार करती है। अनुकूलन और नियन्त्रण दोनो ही किसी-न किसी स्तर पर अलोकतान्त्रिक और इसीलिए इस सीमा तक मानव विरोधी प्रवृत्तिया हैं। किसी सीमा तक अनुकूलन या नियन्त्रण यदि आवश्यक हो—यद्यपि इसके सीमा-निर्धारण का सवाल बहुत टेढा है—तो भी यह देखते रहना जरूरी होगा कि इनके पीछे कौन सी प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि शिक्षा व्यक्ति म एक प्रवृत्ति के रूप मे अनुकूलन और नियन्त्रण की भावना का विकास करती है तो निश्चय ही सारे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को देने वाली होन पर भी उसे मानवीय सृजनशीलता के विकास को कुठित करने वाली ही मानना होगा। यदि सामाजिक मान्यताओ और स्थापित रीतिया के प्रति व्यक्ति का अनुकूलन हर परिस्थिति मे सही ही होता तब तो मानवीय चेतना का कोई विकास सम्भव ही नही हुआ होता और किसी तरह के मौलिक अनुसन्धान की प्रेरणा ही समाप्त हो गई होती। इसी प्रकार प्राकृतिक परिवेश को अपना विरोधी मानकर या उस अपने इस्तेमाल की एक चीज समझकर उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की कोशिश एक प्रकार की आत्म केन्द्रित और हिंसक प्रवृत्ति है क्योकि यह पूरे जीवन का, जीवन के स्रोत की अवमानना और दमन है।

इसलिए शिक्षा प्रक्रिया का बुनियादी प्रयोजन यही हो सकता है कि वह व्यक्ति की—शिक्षार्थी की—अन्तर्निहित सृजनशीलता को अभिव्यक्त होने की प्रेरणा दे और इसके लिए आवश्यक गुणों का व्यक्ति म मानसिक और व्यावहारिक स्तर पर विकास करे। आधुनिक समाजो की एक बडी कमजोरी यह है कि प्रत्येक क्षेत्र म कुछ विशिष्ट सृजनशील प्रतिभाओ के बावजूद सामान्य-जीवन मे से सृजनात्मक सुख का यह भाव मिटता जा रहा है। श्रम सृजन नही, तनाव का स्रोत होता जा रहा है। समाज व्यक्ति के सृजनात्मक सन्तोष का अनिवार्य माध्यम नही, एक विवशता माना जाने लगा है और प्रकृति को मनुष्य अपनी सहचरी नही, दासी बनाना चाहने लगा है। शिक्षा यदि सामान्य मनुष्य की इस सृजनात्मकता की भावना को नही बचाती है तो वह मनुष्य को भी नही बचा पायेगी।

विद्रोह : शिक्षा की सार्थकता

सभी आधुनिक समाजों में इस बात पर जोर दिया जाता है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को—शिक्षार्थी को—किसी-न-किसी रोजगार के लिए तैयार कर सके। इसीलिए शिक्षा की योजना या पाठ्यक्रम बनाते समय उसे रोजगारपरक बनाना आवश्यक समझा जाने लगा है। यह धारणा बढ़ती जा रही है कि जिस शिक्षा के आधार पर कोई निश्चित व्यवसाय प्राप्त न किया जा सके, वह व्यर्थ है। इसीलिए शिक्षा के क्षेत्र में मानविकी से सम्बन्धित विषयों को अधिकांशतः बेकार समझा जाता है क्योंकि अधिकांशतः भविष्य के व्यावसायिक जीवन में उनकी विशेष उपयोगिता प्रमाणित नहीं होती। शिक्षार्थियों में बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जिनका व्यवसाय मानविकी के क्षेत्र के विषयों से सबधित हो। इसीलिए कुछ शिक्षाशास्त्री यह आवश्यक मानने लगे हैं कि प्रारम्भिक और माध्यमिक स्तर की शिक्षा योजना में ही कुछ व्यवसायों का व्यावहारिक प्रशिक्षण शामिल कर लिया जाना चाहिए। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इसलिए विशेष प्रकार की व्यावसायिक और तकनीकी दक्षता विकसित करने वाली शिक्षा का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। विज्ञान, तकनीकी, अभियान्त्रिकी और चिकित्सा आदि की शिक्षा समाज में विशेष महत्त्व प्राप्त करती जा रही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त सारी शिक्षा का सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से भी अपना महत्त्व है और शिक्षार्थी के भावी आर्थिक जीवन की सुरक्षा भी इसमें है लेकिन साथ ही यह सवाल भी उठ खड़ा होता है कि क्या वास्तविक और व्यापक अर्थों में इसे शिक्षा कहा जा सकता है? क्या शिक्षा का प्रयोजन किसी विषय की जानकारी दे देना या किसी तक्नीक अथवा व्यवसाय में दक्षता पैदा करने तक ही सीमित है? शिक्षा यदि सस्कृति में प्रवेश की—व्यक्ति के सस्कृतिकरण की—प्रक्रिया है, तो उसका क्षेत्र सिर्फ उपयोगी जानकारी देने तक ही सीमित नहीं समझा जा सकता। सस्कृति ज्ञान के स्तर पर मूल्यबोध और आचरण के स्तर पर मूल्यनिधि की सहज प्रक्रिया है। जीवन में मूल्यबोध और मूल्यनिष्ठा की यह सहजता विकसित करना ही शिक्षा का प्राथमिक

प्रयोजन होना चाहिए। जीवन जी सकने के लिए आवश्यक साधन जुटाने की क्षमता के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि वह जीवन जीने के योग्य भी हो। मूल्यबोध से रहित जीवन पशुस्तर का जीवन है, अतः शिक्षा—जो एक मानवीय प्रक्रिया है—अपना वास्तविक उद्देश्य तभी पूरा कर सकती है जब वह शिक्षार्थी को मानवीय मूल्यों और संवेदना से अनुप्राणित कर सके।

स्पष्ट है कि केवल जानकारी या तकनीकी अथवा व्यावसायिक दक्षता इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकती। जानकारी और दक्षता भी जीवन के लिए उपयोगी चीजें हैं लेकिन उनका उपयोग समाज के हित में किया जाता है अथवा उसके अहित में, यह भी उपयोग करने वाले व्यक्ति या संस्था की मूल्य दृष्टि पर निर्भर करता है। जानकारी या दक्षता संस्कृति का सृजन नहीं करती यद्यपि उसके विकास में वह सहायक उपकरण जरूर हो सकती है। इसका सीधा तात्पर्य यही है कि केवल जानकारी या दक्षता देना शिक्षा के वास्तविक प्रयोजन की अवहेलना करना है।

लेकिन मूल्य बोध या मूल्य दृष्टि का सवाल बहुत उलझा हुआ सवाल है। वास्तविक मानवीय मूल्य क्या है ? उनकी सही अभिव्यक्ति किस प्रकार है ? ये तथा इनसे जुड़े सभी सवाल बड़े पेचीदा सवाल हैं। यह सर्वमान्य है कि शिक्षा की प्रक्रिया और उसके माध्यम से सम्प्रेषित होने वाले मूल्यों का निर्धारण सम्बन्धित जाति, वर्ग, समाज या राष्ट्र के अपने हितों या प्रवृत्तियों के अनुकूल होता है। इसलिए इस बात का बहुत खतरा रहता है कि मूल्यबोध के नाम पर शिक्षा के माध्यम से कोई व्यक्ति, संस्था, वर्ग या राष्ट्र शिक्षार्थी का अनुकूलन करने लगे। इसलिए शिक्षा की सही प्रक्रिया वही हो सकती है जो शिक्षार्थी तक किन्हीं मूल्यों को सम्प्रेषित करने की बजाय उसे इस योग्य बना दे कि वह स्वयं मूल्यों की परख और तदनुकूल उनका अपने लिए वरण कर सके।

अधिकांश शिक्षाशास्त्रियों द्वारा अनुशासन को शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य माना गया है। अनुशासन का वास्तविक अर्थ तो व्यक्ति के विवेक और मूल्यों का अनुशासन ही है लेकिन सामान्य व्यावहारिक जीवन में इसका तात्पर्य किसी-न-किसी सत्ता और उसके द्वारा निर्धारित मर्यादा का अनुशासन होकर रह जाता है। यह देखा गया है कि सत्ता और व्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप किसी-न-किसी स्तर पर उन्हीं मूल्यों की अवहेलना करता है जिनकी पुष्टि ही उसके अस्तित्व की घोषित सार्थकता होती है और इस 'गुप्त उद्देश्य' की पूर्ति में शिक्षा की प्रक्रिया को सदैव अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की जाती है। इसीलिए शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षार्थी की स्वतन्त्रता तो बहुत दूर की बात है, शिक्षक की स्वतन्त्रता का भी अधिकाधिक सीमित करने के कई प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उपाय किये जाते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इसीलिए शिक्षार्थी सीखने के लिए स्वतन्त्र

नहीं होता, वह सीखने के लिए मजबूर होता है, वह सब कुछ सीखने के लिए जो उसे सम्बन्धित व्यवस्था सिखाना चाहती है। इसीलिए, मेरी राय में, शिक्षा की सार्थकता की एक कसौटी यह भी होनी चाहिए—खास तौर पर आधुनिक समाजों में—कि वह किस हद तक शिक्षार्थी को अनुशासित होने के साथ-साथ विद्रोही भी बनाती है। यदि कोई वैज्ञानिक अपने ज्ञान का उपयोग ज्ञान के अपने विकास और पूरी मानवता के कल्याण के लिए करने की बजाय किसी एक वर्ग, राष्ट्र या व्यवस्था के लिए दूसरों को नष्ट करने या उन्हें आघात पहुंचाने के उद्देश्य से करता है अथवा अपने ज्ञान को गुप्त रखता है और ज्ञान के विकास में सरकारी आदेश के कारण असहयोग करता है तो यही मानना होगा कि विज्ञान की शिक्षा में कहीं-न-कहीं कोई कमी है। अन्य विषयों या क्षेत्रों की शिक्षण प्रक्रिया के बारे में भी यही कहा जा सकता है। इसलिए शिक्षा की वास्तविक सार्थकता इसमें है कि वह न केवल शिक्षार्थी के मूल्यबोध और उसके अनुकूल आचरण करने की प्रवृत्ति को पुष्ट करे बल्कि अन्याय और असत्य के विरुद्ध असहयोग और संघर्ष की प्रवृत्ति का विकास भी करे। अन्याय और असत्य से सक्रिय असहयोग और उनके विरुद्ध संघर्ष ही व्यक्ति के मूलगत आचरण की वास्तविक कसौटी है। अतः यदि शिक्षा प्रक्रिया इस आचरण को पुष्ट नहीं करती है तो वह अपने वास्तविक उद्देश्य में असफल ही कही जाएगी।

लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए *शिक्षा-प्रक्रिया का ही नहीं, शिक्षा* व्यवस्था का भी स्वायत्त होना आवश्यक है। जहां यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी की सीखने की स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाए, वहीं यह भी उतना ही आवश्यक है कि इस प्रक्रिया और इसकी प्रबन्धक व्यवस्था को राज्य, पूंजी, सम्प्रदाय आदि सत्ता के विभिन्न प्रकारों से भी अलग रखा जाये। निश्चय ही वर्तमान परिस्थितियों में यह एक मुश्किल—बल्कि कुछ लोगों की राय में तो असम्भव कार्य है लेकिन जिस सीमा तक हम शिक्षा प्रक्रिया को शिक्षार्थी केन्द्रित और शिक्षा व्यवस्था को सत्ता से स्वतन्त्र रख पायेंगे, उसी हद तक शिक्षा भी अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर हो सकेगी।

सामाजिक आचरण और शिक्षा

शिक्षा के प्रयोजन और प्रक्रिया को लेकर विद्वानों में निरन्तर विवाद होता रहा है और अन्य मामलों की तरह यहां भी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुचना संभव नहीं हो सका है। लेकिन यह विवाद मूलत शिक्षा के प्रयोजन के नाम पर जीवन के प्रयोजन के बारे में होता रहा है और उसी कारण शिक्षा की प्रक्रिया को लेकर भी कोई निश्चित पद्धति विकसित नहीं की जा सकी है। शिक्षा के माध्यम से हम अधिकाशत अपने पूर्वाग्रहो और मान्यताओ को नयी पीढी तक सम्प्रेषित करना चाहते रहे हैं और यही आग्रह शिक्षा के प्रयोजन के प्रश्न पर मतैक्य नहीं होने देता, क्योंकि कई मामलो मे हमारी मान्यताए एक-दूसरे से मेल नहीं खाती और कई दफा तो वे बिल्कुल विपरीत ध्रुवो पर स्थित होती हैं। भौतिकवादी और आध्यात्मिक या आदर्शवादी दृष्टिकोण दो परस्पर विरोधी ध्रुव हैं—इसलिए इनसे प्रेरित शिक्षा की अवधारणा, प्रयोजन और प्रक्रिया का भी एक दूसरे से उतना ही भिन्न होना स्वाभाविक है।

दिक्कत यह होती है कि शिक्षा पर विचार करते समय दोनो ही दृष्टियो के समर्थक जीवन की समग्रता पर विचार करने की बजाय अपनी-अपनी दृष्टि के औचित्य को सिद्ध करने पर अधिक बल देते हैं और शिक्षा को जीवन के समग्र विकास के उपकरण की तरह ग्रहण करने की बजाय अपनी दृष्टि को समाज पर आरोपित करने का उपकरण बनाना चाहने लगते हैं। दूसरों पर अपने आग्रहो को आरोपित करने की प्रवृत्ति—चाहे उसके लिए बल का प्रयोग किया जाए या बारीक मनोवैज्ञानिक पद्धतियो का—सूक्ष्म स्तर पर एक अधिनायकवादी प्रवृत्ति है। अत यह अलोकतान्त्रिक ही नहीं, अवैज्ञानिक भी है क्योंकि यह मानवीय चेतना के विकास की दिशा और विस्तार को अपने अधूरे ज्ञान की सीमाओ मे बद कर देना चाहती है। ज्ञान का कोई भी स्तर चेतना के समग्र और सम्पूर्ण विकास की सम्भावनाओं के सम्मुख अधूरा और ओछा ही माना जाना चाहिए। इसीलिए यदि ज्ञान की दिशा सही है तो वह विनय की प्रवृत्ति का विकास करती है। विनय मूलत- एक वैज्ञानिक और लोकतान्त्रिक प्रवृत्ति है क्योंकि यह अन्य पर

अपनी धारणाओं को आरोपित करने से बचती है और उसमें अपनी ही मान्यताओं के प्रति अंध-आग्रह और दूसरे की धारणाओं के प्रति उपेक्षा या अवमानना की भावना नहीं होती—बल्कि सदा दूसरे की राय में सम्मान की प्रवृत्ति होती है। इसलिए शिक्षा को लेकर किसी भी तरह का दुराग्रह अन्ततः एक अनौकतान्त्रिक और इसलिए मानवविरोधी दृष्टिकोण को स्थापित करने का ही प्रयत्न सिद्ध होता है। बहुत से शिक्षा शास्त्री और सांस्कृतिक विचारक यदि शिक्षा और संस्कृति का किसी एक ही संस्था पर—चाहे वह राज्य हो या धर्म या बाजार—निर्भर कर देने को अनुचित मानते हैं तो इसका एक प्रमुख कारण यही होता है कि वे इनको किसी एक दृष्टिकोण या वर्ग के आग्रहों का माध्यम नहीं बनने देना चाहते क्योंकि वे मानवीय चेतना के विकास की सम्भावनाओं के रूपायन पर किसी तरह का एकांगी दबाव डालकर उसे विकृत नहीं करना चाहते।

शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए अक्सर यह कहा जाता है कि शिक्षा समाज का निर्माण करती है शिक्षक राष्ट्र निर्माता होता है और शिक्षा पद्धति में परिवर्तन के द्वारा ही समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है। ये सभी बातें गलत नहीं हैं लेकिन ये पूर्ण सत्य नहीं हैं—बल्कि आंशिक सत्य के रूप में भी ये प्रभावहीन हैं। जिस शिक्षा से हम समाज के पुनः निर्माण की कामना करते हैं और वैसा न कर सकने पर उसे दोषी ठहराते हैं उसके प्रयोजन और प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं समाज या उसकी किसी प्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है। अतः यह कहना ज्यादा सही होगा कि शिक्षा समाज का वैसा ही निर्माण करती है जैसा समाज शिक्षा का निर्माण करता है—दूसरे शब्दों में समाज जैसा बीज बोता है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है।

यह भी गौर करने की बात है कि शिक्षा की चर्चा करते समय हमारे मन में अधिकांशतः स्कूली या विश्वविद्यालयीय शिक्षा अर्थात शिक्षा का एक औपचारिक स्वरूप ही रहता है। साथ ही शिक्षा की परिधि को भी हम बालक या विश्वविद्यालयीय नवयुवक तक ही सीमित रखते हैं। कुछ शिक्षाशास्त्री थोड़ा आगे बढ़कर परिवार को भी शिक्षा-संस्था का एक प्रकार मान लेते हैं। यह सही है लेकिन यह भी उतना ही सही है कि शिक्षा प्रक्रिया में अब इन स्कूल या परिवार जैसी संस्थाओं का केन्द्रीय महत्त्व नहीं रह गया है और वे जिस सीमा तक समाज को प्रभावित करती हैं उससे कहीं अधिक स्वयं राजनैतिक सामाजिक वातावरण से प्रभावित हो रही होती हैं। मुद्रण एवं प्रसार माध्यमों के विस्तार और प्रभाव ने परिवार या स्कूल को शिक्षा के क्षेत्र में वास्तविक अर्थों में निर्देशक या नियन्त्रक इकाई नहीं रहने दिया है। स्कूल अधिक से अधिक कुछ मामलों से कुछ बुनियादी सूचनाएं देने का माध्यम होते जा रहे हैं और परिवार भी धीरे धीरे भावनात्मक और सांस्कृतिक आवश्यकता की संस्था न रहकर वहीं तक

अपने अस्तित्व को बचा पाने में सफल हो रहे हैं जहां तक वे एक आर्थिक आवश्यकता बने रह पाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, रेडियो, दूरदर्शन और फिल्मों के माध्यम से सभी प्रकार की प्रवृत्तियां बिना किसी वरण-प्रक्रिया के परिवार या स्कूल में भी सीधे प्रवेश करती हैं और पारिवारिक प्रवृत्तियों या स्कूल के वातावरण पर अधिक प्रभावी होती हैं। दूसरे शब्दों में, आधुनिक समाजों में शिक्षा शिक्षक या संरक्षक से कहीं अधिक उन अमूर्त शक्तियों पर निर्भर करती है जिनकी प्रक्रिया किन्हीं मानवीय भावनाओं से अनुप्रेरित होने की बजाय पूर्णतया यान्त्रिक है। मुद्रण और प्रसार माध्यम अधिक व्ययसाध्य होने के कारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से निर्देशित एवं नियन्त्रित होते हैं। उनका उद्देश्य शिक्षापरक नहीं होता, इसलिए उनमें मानवीय उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है—यद्यपि ये माध्यम अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा शैक्षिक दृष्टि से भी पूरे समाज को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं।

यह भी गौरतलब है कि इन माध्यमों में प्रत्यक्ष मानवीय सम्पर्क का अभाव रहता है क्योंकि इनका सम्प्रेषण मूलतः यान्त्रिक सम्प्रेषण है—अतः इनसे प्रभावित हो रहे व्यक्ति की चिन्तन-प्रणाली पर भी इस यान्त्रिकता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। बड़ी-से-बड़ी भयंकर दुर्घटनाओं की खबर को नाश्ते की मेज पर हंसी-मजाक के बीच जिस तरह सुना या पढ़ा जाता है, वह संवेदन प्रक्रिया पर इस यान्त्रिकता के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। दूसरी ओर बिना किसी प्रत्यक्ष खतरे के प्रसार माध्यमों द्वारा प्रचारित खबरों से निर्मित एक आतंक, साम्प्रदायिकता या बढ़ते हुए अपराधों का वातावरण किसी भी व्यक्ति को एक निरन्तर तनाव में जीने के लिए बाध्य कर देता है। परिवार या स्कूल का सुरक्षित समझा जाने वाला वातावरण इन प्रवृत्तियों से सुरक्षित नहीं रह सकता। इस प्रकार सामाजिक वातावरण ही अध्यापक और संरक्षक या स्कूल और परिवार की तुलना में शिक्षा का कहीं अधिक वास्तविक माध्यम हो जाता है। बर्ट्रेंड रसेल ने कहीं कहा है कि अधिकांश बच्चे अनजाने ही अपने माता-पिता और अध्यापकों के असली विचारों को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन आम तौर पर वे उनकी उन धारणाओं को ग्रहण नहीं करते जिनका वे प्रचार तो करते हैं पर वास्तव में जो उनकी सच्ची धारणाएं नहीं होतीं। माता-पिता और अध्यापक का स्थान सामाजिक वातावरण लेता जा रहा है, अतः यह स्पष्ट है कि समाज द्वारा औपचारिक रूप से पोषित विचारों की बजाय समाज का वास्तविक आचरण शिक्षा की प्रक्रिया में केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त कर लेता है।

अपनी धारणाओ को आरोपित करने से बचती है और उसमे अपनी ही मान्यताओं के प्रति अंध-आग्रह और दूसरे की धारणाओ के प्रति उपेक्षा या अवमानना की भावना नही होती—बल्कि सदा दूसरे की राय के सम्मान की प्रवृत्ति होती है। इसलिए शिक्षा को लेकर किसी भी तरह का दुराग्रह अंतत: एक अलोकतांत्रिक और इसलिए मानवविरोधी दृष्टिकोण को स्थापित करने का ही प्रयत्न सिद्ध होता है। बहुत से शिक्षा शास्त्री और सांस्कृतिक विचारक यदि शिक्षा और संस्कृति को किसी एक ही संस्था पर—चाहे वह राज्य हो या धर्म या बाजार—निर्भर कर देने को अनुचित मानते हैं तो इसका एक प्रमुख कारण यही होता है कि वे इनको किसी एक दृष्टिकोण या वर्ग के आग्रहों का माध्यम नही बनने देना चाहते क्योंकि वे मानवीय चेतना के विकास की सम्भावनाओं के रूपायन पर किसी तरह का एकांगी दबाव डालकर उसे विकृत नही करना चाहते।

शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए अक्सर यह कहा जाता है कि शिक्षा समाज का निर्माण करती है शिक्षक राष्ट्र निर्माता होता है और शिक्षा पद्धति में परिवर्तन के द्वारा ही समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है। ये सभी बातें गलत नही हैं लेकिन ये पूर्ण सत्य नही हैं—बल्कि आंशिक सत्य के रूप में भी ये प्रभावहीन हैं। जिस शिक्षा से हम समाज के पुनः निर्माण की कामना करते हैं और वैसा न कर सकने पर उसे दोषी ठहराते हैं उसके प्रयोजन और प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं समाज या उसकी किसी प्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है। अतः यह कहना ज्यादा सही होगा कि शिक्षा समाज का वैसा ही निर्माण करती है जैसा समाज शिक्षा का निर्माण करता है—दूसरे शब्दों में समाज जैसा बीज बोता है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है।

यह भी गौर करने की बात है कि शिक्षा की चर्चा करते समय हमारे मन में अधिकांशत: स्कूली या विश्वविद्यालयीय शिक्षा अर्थात शिक्षा का एक औपचारिक स्वरूप ही रहता है। साथ ही शिक्षा की परिधि को भी हम बालक या विश्वविद्यालयीय नवयुवक तक ही सीमित रखते हैं। कुछ शिक्षाशास्त्री थोड़ा आगे बढ़कर परिवार को भी शिक्षा संस्था का एक प्रकार मान लेते हैं। यह सही है लेकिन यह भी उतना ही सही है कि शिक्षा प्रक्रिया में अब इन स्कूल या परिवार जैसी संस्थाओ का केन्द्रीय महत्त्व नही रह गया है और वे जिस सीमा तक समाज को प्रभावित करती हैं उससे कहीं अधिक स्वयं राजनैतिक सामाजिक वातावरण से प्रभावित हो रही होती हैं। मुद्रण एवं प्रसार माध्यमों के विस्तार और प्रभाव ने परिवार या स्कूल को शिक्षा के क्षेत्र मे वास्तविक अर्थों मे निर्देशक या नियन्त्रक इकाई नही रहने दिया है। स्कूल अधिक से अधिक कुछ मामलों में कुछ बुनियादी सूचनाएं देने का माध्यम होते जा रहे हैं और परिवार भी धीरे धीरे भावनात्मक और सांस्कृतिक आवश्यकता की संस्था न रहकर वहीं तक

अपने अस्तित्व को बचा पाने मे सफल हो रहे हैं जहा तक वे एक आर्थिक आवश्यकता बने रह पाते हैं। पत्र-पत्रिकाओ, पुस्तकों, रेडियो, दूरदर्शन और फिल्मों के माध्यम से सभी प्रकार की प्रवृत्तिया बिना किसी वरण-प्रक्रिया के परिवार या स्कूल मे भी सीधे प्रवेश करती हैं और पारिवारिक प्रवृत्तियो या स्कूल के वातावरण पर अधिक प्रभावी होती है। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक समाजो मे शिक्षा शिक्षक या सरक्षक से कही अधिक उन अमूर्त शक्तियो पर निर्भर करती है जिनकी प्रक्रिया किन्ही मानवीय भावनाओ से अनुप्रेरित होने की बजाय पूर्णतया यान्त्रिक है। मुद्रण और प्रसार माध्यम अधिक व्ययसाध्य होने के कारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से निर्देशित एव नियन्त्रित होते हैं। उनका उद्देश्य शिक्षापरक नही होता, इसलिए उनमे मानवीय उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है—यद्यपि ये माध्यम अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा शैक्षिक दृष्टि से भी पूरे समाज को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं।

यह भी गौरतलब है कि इन माध्यमो मे प्रत्यक्ष मानवीय सम्पर्क का अभाव रहता है क्योंकि इनका सम्प्रेषण मूलत यान्त्रिक सम्प्रेषण है—अत इनसे प्रभावित हो रहे व्यक्ति की चिन्तन-प्रणाली पर भी इस यान्त्रिकता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडना स्वाभाविक है। बडी-से बडी भयकर दुर्घटनाओ की खबर को नाश्ते की मेज पर हसी-मजाक के बीच जिस तरह सुना या पढा जाता है, वह सवेदन प्रक्रिया पर इस यान्त्रिकता के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। दूसरी ओर बिना किसी प्रत्यक्ष खतरे के प्रसार माध्यमो द्वारा प्रचारित खबरो से निर्मित एक आतक, साम्प्रदायिकता या बढते हुए अपराधो का वातावरण किसी भी व्यक्ति को एक निरन्तर तनाव मे जीने के लिए बाध्य कर देता है। परिवार या स्कूल का सुरक्षित समझा जाने वाला वातावरण इन प्रवृत्तियो से सुरक्षित नही रह सकता। इस प्रकार सामाजिक वातावरण ही अध्यापक और सरक्षक या स्कूल और परिवार की तुलना मे शिक्षा का कही अधिक वास्तविक माध्यम हो जाता है। बर्ट्रेंड रसेल ने कही कहा है कि अधिकाश बच्चे अनजाने ही अपने माता-पिता और अध्यापको के असली विचारों को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन आम तौर पर वे उनकी उन धारणाओ को ग्रहण नही करते जिनका वे प्रचार तो करते हैं पर वास्तव मे जो उनकी सच्ची धारणाएं नही होती। माता-पिता और अध्यापक का स्थान सामाजिक वातावरण लेता जा रहा है, अत यह स्पष्ट है कि समाज द्वारा औपचारिक रूप से घोषित विचारो की बजाय समाज का वास्तविक आचरण शिक्षा की प्रक्रिया मे केन्द्रीय महत्व प्राप्त कर लेता है।

आधुनिक विचार-प्रवृत्ति और पाठ्यक्रम

भारतीय समाज आधुनिक होने की प्रक्रिया म है। समाजशास्त्रियों का एक वर्ग यह मानता रहा है कि जीवन के आधुनिक समझे जाने वाले उपकरणों और सुविधाओं का प्रयोग स्वत ही आधुनिक मानसिकता की ओर ले जाने वाला है, लेकिन सामाजिक विकास का अनुभव इस बात को शत प्रतिशत प्रमाणित नही करता। यह तो माना जा सकता है कि इन उपकरणों का प्रयोग नयी प्रकार की समस्याए पैदा करता है लेकिन उनका हल अनिवार्यतया आधुनिकता की दिशा म ही होना आवश्यक नही है। पश्चिम और मध्य एशिया के बहुत म देशा म जीवन के आधुनिकतम उपकरण प्रयोग म लाये जाने लगे हैं लेकिन वहा की मानसिकता अभी तक न केवल आधुनिक नही है बल्कि पिछले कुछ वर्षों स मध्यकालीन मानसिक प्रवृत्तिया और अधिक जोर पकडन लगी हैं। पश्चिमी जातियों की रगभद की मानसिकता, बढ़त हुए अपराध और स्त्री के जिस्म का व्यापार क्या यह स्पष्ट नही कर दत कि आधुनिक मानसिकता का विकास वहा भी निर्दोष नही है। भारतीय समाज म बढती हुई साम्प्रदायिकता, जाति भेद और सामाजिक हिंसा को क्या आधुनिक मानसिकता के विकास का पर्याय माना जा सकता है ? यदि नही तो क्या यह प्रमाणित नही हो जाता कि जीवन के आधुनिक उपकरणो का प्रयोग स्वत ही किसी समाज को आधुनिक नही कर देता ?

मनुष्य का सामाजिक विकास कोई स्वत प्रेरित और यन्त्रचालित प्रक्रिया नही है। उसके अपने स्वतन्त्र निर्णय की भी उसम बुनियादी भूमिका है। शिक्षा का सामाजिक महत्त्व इसी बात म है कि उसके माध्यम से कोई समाज अपने विकास की दिशा निर्धारित कर सकता है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का असर समाज पर पडता है तो भारतीय सन्दर्भ म यह पडताल करना उपयोगी होगा कि हमारी शिक्षा प्रक्रिया किस हद तक आधुनिक मानसिकता को प्रतिबिम्बित करती है। लेकिन तब यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि हम आधुनिक मानसिकता किसे कहेंगे ?

आधुनिक कही जाने वाली विभिन्न विचार-प्रवृत्तिया एक-दूसरे से कई बार इतनी अलग हो जाती हैं कि उनके आधार पर आधुनिक मानसिकता का कोई स्पष्ट और निर्विवाद स्वरूप विकसित करना सम्भव नही दिखाई देता। लेकिन सभी आधुनिक विचारधाराए मनुष्य के बारे म कुछ बातो को सामान्यत स्वीकार करती हैं। अत दार्शनिक गुत्थियो मे उलझे बिना भी उन कुछ बातो के आधार पर आधुनिक मानसिकता की एक दिशा की तो स्पष्ट कल्पना की ही जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकता की प्रक्रिया का प्रारम्भ पुनर्जागरण काल से माना जा सकता है जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य के विवेक और अनुभव को ही अन्तिम प्रमाण के रूप मे स्वीकार करना। विज्ञान का सारा विकास मनुष्य मे विवेक को पुष्ट करने का ही इतिहास है—वैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक विज्ञानो और मानविकी विद्याओ का अध्ययन विश्लेपण मानवीय अनुभव को इस विज्ञानसम्मत विवेक के आधार पर जाचने परखने की प्रवृत्ति का ही प्रतिफलन है। यही यह भी स्पष्ट कर देना सगत होगा कि विज्ञान टेक्नॉलोजी नही है—वह उन नियमो की खोज है जिसके आधार पर टेक्नॉलोजी विकसित की जा सकती है। टेक्नॉलोजी का स्वरूप कैसा हो, यह विज्ञान पर नही मानवीय अनुभव पर, उसकी मानसिकता पर निर्भर करता है। मनुष्य इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह कैसी टेक्नॉलोजी चुने। दूसरे शब्दो मे, टेक्नॉलोजी का चुनाव स्वय विज्ञान पर नही, उस मूल्यबोध पर आधारित है जिसका स्रोत मानवीय अनुभव है। यदि हम ऐसी टेक्नॉलोजी चुनते हैं जो मनुष्य को गौण बना देती हो तो यह हमारी उस मानसिकता का ही प्रतिफलन है जिसमे मनुष्य को, अपने म इतर सब कुछ को गौण स्वीकार किया गया है।

यदि आधुनिक दृष्टि मनुष्य के विवेक और अनुभव को केन्द्र म रखती है तो प्रकारान्तर से वह मनुष्य मात्र की—न कि किसी विशेष मनुष्य की—गरिमा, स्वतन्त्रता और समानता को बुनियादी सामाजिक मूल्यो के रूप मे स्वीकार कर रही होती है। इन मूल्यो का सामाजिक-राजनैतिक प्रतिफलन लोकतन्त्र, आर्थिक सामाजिक बराबरी और अहिंसा के व्यवहार मे होता है। इसलिए यदि समाज मे मनुष्य का शोषण, दमन या अवमानना होती है और उसे लेकर कोई सार्वजनिक उद्विग्नता नही दिखाई देती तो मानना होगा कि वह समाज सही अर्थो म आधुनिक नही है—बल्कि ज्यादा सही होगा यह कहना कि आधुनिक कहे जाने वाले उपकरणों का प्रयोग वह आधुनिक और मानवविरोधी दृष्टि से कर रहा है।

क्या आधुनिक मानसिकता की इन प्रवृत्तियो का, इस तरह के आधुनिक विचारों का प्रतिफलन हमारे पाठ्यक्रम और शिक्षण-प्रक्रिया मे दिखाई देता है? क्या हमारी शिक्षा मनुष्य की स्वतन्त्र विवेक-शक्ति को पुष्ट करती, सामाजिक

बराबरी को—जिसमे स्त्री-पुरुषो की बराबरी भी शामिल है—प्रोत्साहन देती और अहिंसा की मानसिकता का विकास करती है? हमारे पाठ्यक्रम मे मनुष्य को मनुष्य की तरह देखा जाता है या हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई अथवा भारतीय, रूसी, पाकिस्तानी, चीनी, अमरीकी या गोरे-काले के रूप मे ? क्या पाठ्यक्रम और शिक्षणविधि विद्यार्थी के अपने विवेक को महत्त्व देते हैं या उस पर अन्यत्र किये गये निर्णयो को थोप देते हैं? अनुशासन को स्वतन्त्र चेतना की आन्तरिक सहज प्रवृत्ति के रूप मे स्वीकार किया जाता है या किसी-न-किसी प्रकार की सत्ता के प्रति असहाय आत्मसमर्पण मे ही उसे देखा जाता है ? और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि प्रत्येक मनुष्य की गरिमा को, उसकी अद्वितीयता और विशिष्ट व्यक्तित्व को डॉ० छगन मेहता के शब्द उधार लेकर कहे तो उसके 'निरालेपन' को—हमारे पाठ्यक्रम और शिक्षा-व्यवस्था मे केन्द्रीय स्थान प्राप्त है या नही ?

दरअसल, यह अन्तिम बात ही वह कसौटी है जिसके आधार पर हम आधुनिक मानसिकता की सही परख कर सकते हैं। यदि हम मनुष्य को स्वतन्त्र और अद्वितीय नही मानते तो हम उसे वास्तविक समता से भी वचित कर देते हैं क्योकि यदि मनुष्य की चेतना की स्वतन्त्रता नही है तो उसकी समता भी पशु समाज की समता की तरह है—स्वतन्त्र और निर्णय लेने की क्षमता से युक्त तब वही हो पाता है जिसने सत्ता को, ताकत को अपने मे केन्द्रित कर लिया है।

यदि प्रत्येक मनुष्य अद्वितीय और विशिष्ट है तो शिक्षा का उद्देश्य इस अद्वितीयता और विशिष्टता को—अन्य अद्वितीयताओ के साथ सन्तुलन बनाये रखते हुए—उजागर और पुष्ट करना हो जाता है। तब बुनियादी सवाल यह उठता है कि क्या यह विशिष्टता और अद्वितीयता पूरे देश या प्रदेश के सभी विद्यार्थियो के लिए एक सामान्य पाठ्यक्रम बनाकर उजागर की जा सकती है। यह बहुत सम्भव है कि एक विद्यार्थी सगीत या चित्रकला मे विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न हो लेकिन बीजगणित या विज्ञान की ओर उसकी प्रतिभा अधिक विकसित न हो। यह तो ठीक है कि गणित या विज्ञान मे भी उसकी रुचि विकसित करने की चेष्टा की जाय, लेकिन वैसा न हो सकने पर उसे सगीत या चित्रकला या ऐसे ही किसी अन्य विषय के शिक्षण से भी वचित कर देना विवेक-सम्मत नही कहा जा सकता। लेकिन हमारी वर्तमान शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी पर बिना उसकी मानसिकता और विशिष्ट गुणो को पहचाने एक अनिवार्य सामान्य पाठ्यक्रम थोप देती है। यदि शिक्षा को वास्तविक अर्थों में आधुनिक होना है तो उसकी पहली शर्त शिक्षार्थी की रुचि और प्रवृत्तियो के अनुकूल पाठ्यक्रम का उसी के सक्रिय सहयोग से विकास किया जाना है। तभी वह अपनी सही मजिल पर पहुंच सकता है—सारा मानसिक तनाव और हिंसा उस सही मजिल तक न पहुच पाने और उसके विशिष्ट गुणो के विकसित न हो पाने के कारण उत्पन्न

असंतोष, खीझ और असफलताबोध की ही अभिव्यक्ति है। एक हिन्दू, मुस्लिम, बंगाली, पंजाबी के रूप में अपनी विशिष्टता पर अतिवादी आग्रह दरअसल एक मनुष्य के रूप में अपनी विशिष्टता के विकसित न हो पाने की मनोवैज्ञानिक क्षतिपूर्ति का परिणाम है। जब तक हम एक मनुष्य के रूप में अपनी अद्वितीयता को सही नहीं पहचान पाते तब तक दूसरे की अद्वितीयता का अहसास और उसके प्रति सम्मान की भावना का भी वास्तविक विकास सम्भव नहीं है—और इस अहसास के बिना न तो लोकतन्त्र ही सम्भव है और न शोषणमुक्ति ही। दूसरे शब्दों में, इस अहसास के बिना एक सही आधुनिक समाज का विकास सम्भव नहीं है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे पाठ्यक्रम सामान्यीकरण की प्रक्रिया हैं। उनमें शिक्षार्थी की अपनी विशिष्टता की तलाश नहीं है। समता और सामान्यीकरण दो भिन्न बातें हैं इसको समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक हम विशिष्टता पर आधारित समता की बजाय सामान्यीकरण की प्रवृत्ति पर जोर देते रहेंगे तब तक हम शिक्षार्थी आधारित आधुनिक पाठ्यक्रम का विकास नहीं कर सकेंगे। ऐसा नहीं है कि हमारे वर्तमान पाठ्यक्रमों में रंगभेद जातिभेद, साम्प्रदायिकता या मनुष्य के शोषण और दमन के प्रति विरोध के स्वर नहीं हैं। महापुरुषों की जीवनियां हम अच्छा आदमी बनाने के लिए प्रस्तुत की जाती हैं तो देशभक्ति और अनुशासन की कहानियां इसलिए रखी जाती हैं कि हमारे अन्दर अच्छे नागरिक के गुण विकसित हों। लेकिन यदि इस तरह के पाठ्यक्रम अधिकांशतः अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असफल सिद्ध होते हैं तो उसका महत्त्वपूर्ण कारण यही है कि वे एक मूल्य व्यवस्था को ऊपर से थोपने का प्रयत्न करते हैं—शिक्षार्थी के अपने अनुभव संसार और विवेक से उनका निस्सरण नहीं होने देते। पाठ्यक्रम में कुछ बातों को कभी भी जोड़ा या कम किया जा सकता है लेकिन इससे सामान्यीकरण की बुनियादी प्रवृत्ति में कोई फर्क नहीं पड़ता और इसलिए इस तरह का कोई भी पाठ्यक्रम वास्तविक आधुनिक मानसिकता का विकास करने में अन्ततः असफल ही रहेगा। इसी का नतीजा यह होगा कि हम सैद्धान्तिक स्तर पर लोकतन्त्र के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी दूसरों की राय और व्यक्तित्व के प्रति असहिष्णु और हिंसक बने रहेंगे तथा मानवीय गरिमा के विचार को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य को एक उपकरण की तरह व्यवहार में लाते और उसका शोषण करते रहेंगे। विचार और व्यवहार के इस अन्तर्विरोध के विकास में हमारी शिक्षा प्रक्रिया का दोष यही है कि वह लोकतन्त्र का विचार तो देती है लेकिन मनुष्य की अद्वितीयता और गरिमा को हमारी अनुभव प्रक्रिया में समाहित करने की ओर सचेष्ट नहीं होती। ऐसा होना तभी सम्भव है जब हमारा पाठ्यक्रम ही नहीं पूरी शिक्षा प्रक्रिया शिक्षार्थी को अपनी अद्वितीयता और विशिष्टता का अनुभव करवाते हुए उसी के माध्यम से

दूसरो की विशिष्टता और अद्वितीयता का बोध करवाये। अद्वितीय व्यक्तियों की समता ही वास्तविक लोकतन्त्र और शोषणविहीन समाज का आधार हो सकती है—और इसके लिए शैक्षणिक प्रक्रिया तैयार करने की पहली आवश्यकता है कि हमारे पाठ्यक्रम का उद्देश्य सामान्य व्यक्ति नही एक अद्वितीय व्यक्ति तैयार करना हो। आधुनिक उपकरणो और सस्थाओ की जानकारी दे देना आधुनिक शिक्षा नही है। शिक्षा का तात्पर्य यदि मानसिकता का विकास है तो यह ध्यान रखना होगा कि मनुष्य की अद्वितीयता और स्वतन्त्रता को स्वीकार किये बिना कोई शिक्षा प्रक्रिया सही अर्थों म मानवपरक नही हो सकती जबकि आधुनिकता मानवपरकता का ही पर्याय है। आधुनिकता देश-काल म—परिवेश म—अपनी विशिष्ट भूमिका की पहचान है, हमारे वर्तमान पाठ्यक्रम देशकाल की, परिवेश की जानकारी देने की ओर तो फिर भी उन्मुख हैं लेकिन शिक्षार्थी के अपने वैशिष्टय की पहचान नही करवा पाते जिसके बिना शिक्षार्थी का भी अपनी भूमिका का निर्वाह ठीक तरह से न कर पाना अस्वाभाविक नही कहा जायेगा।

आधुनिक मूल्य और शिक्षा

शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियो मे आधुनिक मूल्यों की चेतना और उनके प्रति आचरणगत निष्ठा कैसे विकसित की जा सकती है? इस सवाल पर विचार करने से पहले अधिकांश शिक्षक और शिक्षाशास्त्री 'आधुनिक' और 'मूल्य' पदो की व्याख्या की माग करेंगे। मूल्य क्या है? क्या वे कालगत होते हैं? आधुनिकता कोई एक नया दृष्टिकोण है या कोई कालगत अवधारणा? और फिर मूल्य तो मानवीय आचरण के सनातन आदर्श होते हैं, अत. उनके 'आधुनिक' या 'अनाधुनिक' होने के क्या अर्थ हैं? जाहिर है कि हम एक अनन्त बहस मे उलझ जायेंगे और निश्चय ही वह भी उपयोगी तो होगी, पर तब यह सवाल भी अनन्त काल तक टालना होगा कि शिक्षा के माध्यम से आधुनिक मूल्यो के प्रति निष्ठा कैसे विकसित की जा सकती है।

इसलिए 'आधुनिक' और 'मूल्य' शब्दो की तात्त्विक मीमांसा मे जाये बिना ही यह तय करना होगा कि वे मूल्य कौन-से हैं, जिन्हे आज का समाज अपने घोषित आदर्शों के रूप मे स्वीकार करता है। हो सकता है कि समाज के अपने आचरण मे कुछ ऐसे अन्तर्विरोध हो, जो उन मूल्यों को पुष्ट न करते हो या उनका विरोध भी करते हो। लेकिन इस सन्दर्भ म एक इतिहासकार का यह मत ध्यातव्य है, "सभी ऐतिहासिक संस्कृतियों मे आदर्श और यथार्थ की अविश्रब्ध साझेदारी मिलती है। बल्कि यह कहना चाहिए कि उनमे एक आवश्यक अन्तर्द्वन्द्व रहता है, इसीलिए किसी भी संस्कृति का आदर्शपरक निरूपण उसके आधारभूत ऐतिहासिक समाज के यथार्थ का अविकल निरूपण नही हो सकता। दूसरी ओर आदर्श और यथार्थ को जोड़ने की नीति सभी संस्कृतियो का आवश्यक अंग होती है। इस दृष्टि से यथार्थ का सामान्य विवेचन भी उसके आदर्श मे अन्तर्भूत होता है।" इसलिए आधुनिक मूल्यों के रूप मे हमे उन बातो को 'आधुनिक मूल्य' स्वीकार करना होगा, जिनमे आज का समाज अपनी निष्ठा घोषित करता है—चाहे उसका यथार्थ आचरण कुछ हद तक अपनी घोषित निष्ठा के विरुद्ध हो जाता हो—और देखना होगा कि हमारी शिक्षा अपनी प्रक्रिया मे उन मूल्यो को कहा तक पुष्ट करती और

विद्यार्थी में उनके प्रति आचरणगत निष्ठा विकसित करती है।

इसलिए 'आधुनिक मूल्य' की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए तात्त्विक या दार्शनिक विवेचन की बजाय ऐतिहासिक विश्लेषण अधिक प्रसगानुकूल, उपयुक्त एव सुविधाजनक रहेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर फ्रेंच राज्यक्रान्ति को हम आधुनिक युग के प्रस्थान-बिन्दु के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। यह नही है कि फ्रेंच राज्यक्राति म घोषित आदर्श अचानक आकाश स टपके थे, निश्चय ही पहले के इतिहास मे भी और विशेषतया पुनर्जागरणकाल से उनका विकास दिखाई देता है, लेकिन फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने पहली बार पुरानी समाज व्यवस्था को अमान्य करते हुए स्पष्टतया उन मूल्यो की घोषणा की, जो आज तक हमारा आदर्श बने हुए हैं। 'स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व' फ्रेंच राज्यक्रान्ति के ये तीनो आदर्श आज भी हमारी समाज-व्यवस्था के और इसलिए हमारे सामाजिक आचरण के आदर्श बने हुए हैं और शायद ही कोई आधुनिक समाज या व्यक्ति होगा, जो इन आदर्शों म विश्वास करने स इनकार करता हो। हमारे युग की सभी समस्याए—चाहे उनका स्वरूप और स्तर कुछ भी हो—कही-न-कही फ्रेंच राज्यक्रान्ति म घोषित इन तीन आदर्शों म से किसी-न किसी की उपेक्षा करने या अपने सकीर्ण स्वार्थों के कारण उनके विरुद्ध आचरण करने से उत्पन्न होती है और उनका कोई स्थायी समाधान तब तक नही हो सकता जब तक हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक राजनीतिक आचरण इन आदर्शों के अधिकाधिक अनुकूल न हो जाये।

यदि आधुनिक दृष्टि मनुष्य को केन्द्र मे रखती है तो प्रकारान्तर से वह मनुष्य मात्र की गरिमा, स्वतन्त्रता और समानता को उन बुनियादी सामाजिक मूल्यो के रूप में स्वीकार कर रही होती है, जिन्हे फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय से ही नयी समाज-रचना के बुनियादी आधारों के रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है। इन मूल्यो का सामाजिक-राजनीतिक प्रतिफलन लोकतन्त्र, आर्थिक-सामाजिक बराबरी और अहिंसा व भाई-चारे के व्यवहार मे होता है। इसलिए स्वाभाविक ही यह सवाल विचारणीय हो जाता है कि शिक्षा के माध्यम से मनुष्य मे इन आधुनिक मूल्यों के प्रति सवेदनागत, विश्वासगत एव आचरणगत निष्ठा कैसे विकसित की जा सकती है और क्या हमारी वर्तमान शिक्षा ऐसा कर पा रही है, क्योकि शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा 'वयस्क' होता हुआ व्यक्ति समूह के जीवन और संस्कृति म प्रवेश करता है।' इसलिए यह देखना होगा कि क्या इन आधुनिक मूल्यों का प्रतिफलन हमारी शिक्षण प्रक्रिया मे दिखायी देता है। क्या हमारी शिक्षा मनुष्य की स्वतन्त्र विवेकशक्ति को पुष्ट करती है, सामाजिक बराबरी को—जिसमे स्त्री-पुरुषो की बराबरी भी शामिल है—प्रोत्साहन देती और अहिंसा व भाई चारे से प्रेरित सहयोग की मानसिकता का विकास करती है? कही शिक्षा गैर-बराबरी और अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा को बढावा तो नही दे रही? पाठ्यक्रम

और शिक्षण-विधि विद्यार्थी के अपने विवेक और उसमे अन्तर्निहित सम्भावनाओ को महत्त्व देते हैं या अन्यत्र किये गये निर्णयो को उस पर थोप देते हैं ? अनुशासन को स्वतन्त्र चेतना की आन्तरिक सहज प्रवृत्ति के रूप मे देखा जाता है या किसी न किसी प्रकार की सत्ता के सम्मुख असहाय आत्मसमर्पण मे ही उसे देखा जाता है ? और सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि प्रत्येक मनुष्य की गरिमा को, उसकी अद्वितीयता और विशिष्ट व्यक्तित्व को—डॉ० छगन मोहता के शब्द उधार लेकर कहें तो उसके 'निरालेपन' को हमारे पाठ्यक्रम और शिक्षण प्रक्रिया मे केन्द्रीय स्थान प्राप्त है या नही ? दरअसल यह अन्तिम बात ही वह कसौटी है, जिसके आधार पर हम आधुनिक मूल्यो मे शिक्षा की निष्ठा की सही परख कर सकते हैं। यदि हम मनुष्य को स्वतन्त्र और अद्वितीय नही मानते तो हम उसे वास्तविक समता और मानवीय गरिमा से भी वचित कर देते है क्योकि यदि चेतना की स्वतन्त्रता नही है, तो मनुष्य की समता भी पशु समाज की समता की तरह है—स्वतन्त्र और निर्णय लेने की क्षमता से युक्त सब वही हो पाता है, जिसने सत्ता को, ताकत को अपने मे केन्द्रित कर लिया है।

हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पाठ्यक्रम तय करने, कक्षा में उसका शिक्षण करने और अन्त मे एक परीक्षा के माध्यम से उस शिक्षण की सूचनात्मक जाच करने के तीन चरणो मे विभाजित है और पाठ्यक्रम तय करने वाले, शिक्षण करने वाले और परीक्षा करने वाले लोग अधिकाशत न केवल भिन्न होते हैं, बल्कि उनमे कोई तालमेल भी नही होता। और यह तो स्पष्ट ही है कि इस सारी प्रक्रिया मे विद्यार्थी की रुचि, प्रतिभा, परिस्थिति और आवश्यकता का कोई विचार और उसकी सहभागिता नही होती। और इस सबसे अलग एक प्रशासक या नौकरशाह वर्ग होता है, जो इन सारी गतिविधियो को निर्देशित व सचालित करता है। यह ध्यातव्य है कि यह प्रशासक वर्ग राज्य का प्रतिनिधि होता है।

यदि प्रत्येक मनुष्य अद्वितीय और विशिष्ट है तो शिक्षा का उद्देश्य इस अद्वितीयता और विशिष्टता को—अन्य अद्वितीयताओ के साथ सन्तुलन बनाये रखते हुए—उजागर और पुष्ट करना हो जाता है। तब बुनियादी सवाल यह उठता है कि क्या यह विशिष्टता और अद्वितीयता पूरे देश या प्रदेश के सभी विद्यार्थियों के लिए एक सामान्य पाठ्यक्रम और एक सामान्य शिक्षण-प्रक्रिया और परीक्षा प्रणाली अपना कर उजागर की जा सकती है ? यह बहुत सम्भव है कि एक विद्यार्थी साहित्य या किसी कला मे विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न हो, लेकिन गणित वाणिज्य या विज्ञान की ओर उसकी प्रतिभा पर्याप्त विकसित न हो। यह तो ठीक है कि इन क्षेत्रो मे भी उसकी रुचि विकसित करने की चेष्टा की जाय, लेकिन वैसा न हो सकने पर उसे अपनी रुचि के विषय मे आगे के शिक्षण से वचित कर देना विवेकसम्पन्न नही कहा जा सकता। सच तो यह है कि सभी

विद्यार्थियो के लिए एक सामान्य पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधि अपनाना और उसकी परिधि मे न अट सकने वाले विद्यार्थी को शिक्षा से ही वंचित कर देना न केवल उस विद्यार्थी के प्रति अन्याय है बल्कि स्वय शिक्षा-प्रक्रिया के ही माध्यम से मानवीय स्वतन्त्रता और गरिमा के विपरीत आचरण है।

आधुनिक मूल्यों और शिक्षा के सम्बन्ध को विभागीय शिक्षाशास्त्रियो द्वारा बहुत सतही स्तर पर टालने के प्रयास अक्सर किये जाते रहे हैं। ये प्रयास देखने मे बड़े मासूम लगते हैं, इसलिए इन्हे अधिक गहराई से समझने की आवश्यकता है। सामान्यत यह समझ लिया जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रक्रिया और व्यवस्था को यथावत् रखते हुए या उसी म कोई सतही सुधार करते हुए पाठ्क्रम और पाठ्य-पुस्तको मे आधुनिक मूल्यो से सम्बन्धित जानकारी का समावेश करे तथा उनके सम्बन्ध मे कुछ प्रेरणादायक बातें कहकर या उदाहरण रखकर विद्यार्थियों मे मूल्य-निष्ठा पैदा की जा सकती है। इसलिए जब भी शिक्षा के माध्यम से मूल्य-बोध के विकास की बात होती है, तो अधिकाशत. पाठ्यक्रम मे तदनुकूल परिवर्तन कर देने पर ही आकर तान टूटती है। यह ठीक है कि पाठ्क्रम या पाठ्यपुस्तकों का अपना महत्त्व है और उन्हे आधुनिक मूल्य-दृष्टि से अनुप्राणित होना चाहिए, लेकिन यह न केवल अधूरा समाधान है बल्कि यदि शिक्षण प्रक्रिया की संरचना अपने स्वरूप और व्यवहार मे आधुनिक मूल्य दृष्टि की विपरीत दिशा की ओर जा रही हो—जैसा कि वर्तमान शिक्षा कर रही है—तो विद्यार्थी मे मूल्य निष्ठा की बजाय पाखण्ड और छद्म आचरण विकसित होने लगता है, क्योंकि पाठ्यक्रम मे घोषित आदर्शों के विरुद्ध आचरण करती हुई शिक्षा-प्रक्रिया विद्यार्थी को भी वैसा ही आचरण करने के लिए उकसाती है। मार्शल मैक्लुहन की प्रसिद्ध उक्ति है, 'माध्यम ही सन्देश है।' वह उक्ति सचार-साधनो के सन्दर्भ मे जितनी सच है उससे कही ज्यादा इसकी सार्थकता शिक्षा-प्रक्रिया के सन्दर्भ मे है।

इवान इलिच सरीखे शिक्षाशास्त्री इसीलिए यह मानते हैं कि पाठ्यक्रम को सुधारने या बदलने से शिक्षा मे कोई बुनियादी परिवर्तन नही लाया जा सकता है। हमे पूरी शिक्षा प्रक्रिया को, जो आज भी मुख्यत स्कूली-प्रक्रिया है, बदलना होगा जो अपने ही आचरण म आधुनिक मूल्य-बोध की अवहेलना और विरोध करती है, इलिच ने शिक्षा-प्रक्रिया को 'गुप्त पाठ्यक्रम' कहा है, जो घोषित पाठ्यक्रम की तुलना म विद्यार्थी के आचरण को अधिक प्रभावित करता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने शिक्षा की प्रक्रिया के बारे मे विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि अधिकाश बच्चे अनजाने ही अपने माता पिता और अपने अध्यापको के असली विचारो को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन आमतौर पर वे उनकी उन धारणाओ को ग्रहण नही करते, जिनका वे प्रचार तो करते हैं, पर वास्तव मे जो उनकी सच्ची धारणाए नही होती। यह बात समूची शिक्षा-प्रक्रिया के बारे मे भी उतनी ही सच है। जो

शिक्षा-प्रक्रिया अपने स्वरूप और व्यवहार में मानवीय स्वतन्त्रता का दमन करती, गैर बराबरी को बढ़ावा देती, सार्थकता की जगह सफलता को महत्त्व और तज्जन्य अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा को उकसाती, परिवेश के साथ जीवन्त रिश्ते की बजाय किताबी सूचना को वरीयता देती तथा मनुष्य को एक निर्जीव अंक या आंकड़ा मानती हो, उससे यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह विद्यार्थियों में आधुनिक मूल्यों के प्रति वास्तविक एवं आचरणगत निष्ठा का विकास कर सकेगी। आज की हमारी शिक्षा-प्रक्रिया और व्यवस्था और उसके विविध पहलू अपनी संरचना और प्रकृति में उपर्युक्त सब विकृतियों से कितने ग्रस्त हैं, इसका अलग से विवेचन करने की जरूरत शायद आज नहीं रह गई है, क्योंकि बीसवीं शती के अनेक पश्चिमी और भारतीय शिक्षा-शास्त्री बार-बार इस शिक्षा-व्यवस्था के दोषों को उजागर कर चुके हैं।

जाहिर है कि आधुनिक मूल्य-दृष्टि की प्रतिष्ठा के लिए समग्र शिक्षा-प्रक्रिया में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है, जब पाठ्यक्रम और शिक्षण-प्रक्रिया के चुनाव में न केवल विद्यार्थी की परिस्थिति और रुझान को केन्द्रीय महत्त्व मिले, बल्कि उसमें उसकी सक्रिय सहभागिता भी हो। शिक्षा को अपनी प्रक्रिया और मूल्यांकन में सफलता और प्रतिस्पर्धा की बजाय सह-भागिता, सार्थकता और आत्मावलोकन को महत्त्व देना होगा और यह तभी हो सकेगा, जबकि ज्ञान की प्रतिष्ठा उपयोगिता के कारण नहीं, बल्कि आनन्द का स्रोत होने की वजह से हो। हमें ऐसे तरीकों की खोज करनी होगी, जिससे शिक्षा शिक्षक-विद्यार्थी के बीच ही नहीं बल्कि विद्यार्थियों के बीच भी एक सहयोगी प्रयास बन सके। शिक्षा की अपनी प्रक्रिया ही गैर-बराबरी, हीनभाव और दमन का पोषण न करने लगे, इसके लिए सम्पन्न और सुविधाहीन वर्गों के लिए स्कूलों के भेद को मिटाने, साथ-साथ प्रार्थना से लेकर परीक्षा तक हर स्तर पर विद्यार्थी में असमर्थता और पर-निर्भरता के अहसास का निराकरण करना होगा। जब तक शिक्षा की प्रक्रिया को अनौपचारिकता, खुलेपन, समानता और सहयोग की भावना के आधार पर नहीं विकसित किया जाता, तब तक उससे यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह आधुनिक मूल्य-दृष्टि की वास्तविक अर्थों में पोषक हो सकेगी।

मानव अधिकार : शिक्षाशास्त्रीय सन्दर्भ

मानव अधिकार किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत समाज की परख की एक सर्वमान्य कसौटी है। जिस समाज म जिस सीमा तक मानव अधिकारो की वास्तविक आचरणगत प्रतिष्ठा हो, उस सीमा तक ही उस वास्तविक अर्थों म सभ्य समाज कहा जा सकता है। दूसरी ओर, शिक्षा संस्कृति के विकास और नैरन्तर्य की एक बुनियादी प्रक्रिया है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसज' (भाग पाच, पृष्ठ 403) म कहा गया है कि शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वयस्क होता हुआ व्यक्ति समूह के 'जीवन और संस्कृति' म प्रवेश करता है। इसलिए स्वाभाविक ही शिक्षा का अधिकार एक बुनियादी मानव अधिकार हो जाता है। लेकिन सम्भवत इस सहज और घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही मानव अधिकारो पर विचार करते हुए अधिकाशत हम अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जैसे राजनैतिक अधिकार—यद्यपि उसका एक शिक्षाशास्त्रीय पहलू भी है जिस पर हम आगे बात करेंगे—और रग भेद या जाति भेद के रूप मे सामाजिक अधिकारो की अवहेलना पर ही विचार करते रह जाते हैं और संस्कृति तथा शिक्षा को अपेक्षित महत्व नही मिल पाता। सामाजिक राजनैतिक अधिकारो पर आग्रह अत्यावश्यक है, उनकी उपेक्षा कतई नहीं की जानी चाहिए, लेकिन साथ ही यह भी देखना होगा कि आधुनिक समाज की सामाजिक राजनैतिक विकृतियो का एक प्रमुख कारण कहीं मानवीय भावनाओं ■ अनुप्राणित शिक्षा पद्धति एव प्रक्रिया का अभाव ही तो नही है।

यह आश्चयजनक है कि पढे लिखे समाज मे भी बहुत कम व्यक्ति इस बात स परिचित है कि मानव अधिकारो के सार्वभौमिक घोषणा पत्र मे शिक्षा का अधिकार (Right to Education) एक बुनियादी मानव अधिकार माना गया है। आपकी सुविधा के लिए मै शिक्षाधिकार सम्बन्धी छब्बीसवें अनुच्छेद को पूरा उद्धृत कर देता हू—

(1) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करन का अधिकार है। शिक्षा कम स-कम प्रारम्भिक और बुनियादी स्तरा तक, नि शुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा

अनिवार्य होगी। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा सामान्यत सभी को उपलब्ध करवाई जाएगी और उच्च शिक्षा योग्यता के आधार पर सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध होगी।

(2) शिक्षा का लक्ष्य मानवीय व्यक्तित्व का समग्र विकास और मानव अधिकारों तथा बुनियादी स्वतन्त्रताओं की प्रतिष्ठा को सुदृढ करना होगा। यह सभी राष्ट्रो, जातियो और धार्मिक समूहो मे, पारस्परिक समझ, सहिष्णुता और मैत्री के विकास का आधार होगा तथा यह शान्ति के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ के कार्यों को आगे बढ़ाएगा।

(3) अपने बच्चो के लिए शिक्षा प्रक्रिया के चयन मे माता-पिता के अधिकार को प्राथमिकता मिलेगी। आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक *अधिकारो के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र (Covenant)* म भी इसी से मिलती-जुलती शब्दावली म (अनुच्छेद-13) शिक्षा प्राप्त करन के अधिकार को एक बुनियादी अधिकार माना गया है।

लेकिन इन घोषणा-पत्रो को पढने स मुझे लगता है कि इन घोषण-पत्रो का मसविदा तैयार करने वालो के मन म भी शिक्षा को लेकर विशेष चिन्ता नही थी। इन घोषणा-पत्रो मे यह अन्तर्विरोध स्पष्ट उभर कर आता है कि शिक्षा का लक्ष्य मानव-व्यक्तित्व का समग्र एव पूर्ण विकास मानते हुए भी केवल प्रारम्भिक शिक्षा को ही नि शुल्क एव अनिवार्य घोषित किया गया है। यदि *शिक्षा मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की प्रक्रिया है तो उसे* उच्च स्तर तक भी नि शुल्क एव अनिवार्य घोषित किया जाना चाहिए था। यह ध्यातव्य है कि यदि कोई व्यक्ति आर्थिक कारणों से अपनी शिक्षा अधूरी छोडने के लिए विवश होता है तो वह न केवल उसके शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार की अवज्ञा है, *बल्कि उसके आर्थिक सामाजिक-राजनैतिक और सास्कृतिक अधिकारों पर भी* आघात है।

यदि हम फिलहाल अपने का प्राथमिक शिक्षा तक ही सीमित रखें तो भी यह एक विचित्र विरोधाभास लगता है कि उन साम्यवादी देशों मे तो प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य माना गया है जिनसे हम *अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के दमन* की सर्वाधिक शिकायत करते हैं, लेकिन भारत-जैसे लोकतान्त्रिक कहे जाने वाले देशों मे न केवल शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को बुनियादी अधिकारो मे शामिल नही किया गया वरन् प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा को भी अभी तक अनिवार्य घोषित नही किया गया है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की चर्चा करते हुए अक्सर हम भूल जाते हैं कि अपनी राय बनाने और उस व्यक्त कर सकने के लिए भी कुछ जरूरी सूचनाओ और उनका विश्लेषण कर कुछ निष्कर्षों तक पहुच पाने की योग्यता की आवश्यकता होती है—ये सूचनाए और विश्लेषण

सामर्थ्य भी शिक्षा से ही प्राप्त हो सकती है। अत जिस समाज मे शिक्षा का अधिकार अनिवार्य और नि शुल्क न हो, उस समाज मे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वयमेव ही बाधित हो जाती है। अभिव्यक्ति का अधिकार एक सकारात्मक धारणा है, अत उसके लिए केवल निषेधात्मक परिस्थितियो का अभाव ही पर्याप्त नही है, उसके लिए सकारात्मक परिस्थितिया की सक्रिय उपस्थिति भी उतनी ही आवश्यक है और शिक्षा की अनिवार्यता और सागोपागता एक ऐसी ही बुनियादी परिस्थिति है।

जब अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की चर्चा हो रही है तो उसके एक और शिक्षाशास्त्रीय पक्ष पर विचार कर लेना उचित होगा। सामान्यत इस पक्ष पर शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत कम विचार हो सका है। मानव अधिकारो के घोषणा पत्र के अनुच्छेद 19 म अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार के अन्तर्गत बिना किसी बाधा के सूचनाए प्राप्त करने और देने तथा किसी भी प्रसार-यन्त्र के माध्यम से अपन विचारो का अबाधित प्रचार करने के अधिकार को मान्यता दी गई है। म इस अधिकार के राजनैतिक महत्व को स्वीकार करत हुए उसके एक और शैक्षणिक पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हू। अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के महत्व को स्वीकार करन के कारण ही प्रसार माध्यमा पर किसी भी प्रकार के सेंसर या नियन्त्रण का विरोध किया जाता है। लेकिन मैं समझता हू कि हम इस सम्बन्ध मे अपने मत की अभिव्यक्ति और तथ्यात्मक जानकारी के प्रस्तुतीकरण के बीच भेद करना होगा। सरकारी और गैर-सरकारी दोनो ही प्रकार के प्रसार माध्यमा और सामाजिक विज्ञानो से सम्बन्धित ग्रन्थों तक म कई बार तथ्यो को विकृत करन, या उन्ह अधूरे रूप म प्रस्तुत करने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। सामान्यत किसी भी प्रकार की राय हम तभी गहराई से प्रभावित करती है जब वह तथ्यो पर आधारित हो लेकिन तथ्यों को अधूरे या विकृत रूप म प्रस्तुत करने पर हमारी शिक्षा प्रक्रिया भी दूषित होती है जिससे शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य, मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास निर्दोष नही रह पाता। लेकिन साथ ही इन माध्यमो पर किसी तरह की रोक लगाने के खतरे भी बहुत स्पष्ट हैं—यह भी स्पष्ट है कि अपने व्यावसायिक, साम्प्रदायिक या राजनैतिक पूर्वाग्रहो के कारण इन माध्यमो मे किसी भी तरह की स्व निर्मित मर्यादाओ का पालन करने की प्रवृत्ति भी बहुत कम दिखाई देती है। इस समस्या को रेखांकित करने और आपसे उस पर विचार करने के आग्रह क अतिरिक्त मैं भी फिलहाल इसका कोई निर्दोष विकल्प प्रस्तुत करने की स्थिति म नही हू।

शिक्षा का एक बुनियादी मानव अधिकार मान लेन पर यह देखना भी आवश्यक हो जाता है कि हमारी शिक्षा की वतमान पद्धति किस सीमा तक

मानव अधिकारो की भावना से अनुप्राणित एव उन्हे पुष्ट करने वाली है। भारत ही नही, दुनिया के सभी देशो म स्कूली प्रणाली ही शिक्षा की स्वीकृत प्रणाली है। ऐसा नही कि स्कूल स बाहर के जरियो से शिक्षा प्राप्त करने पर कोई प्रतिबन्ध है, लेकिन इस प्रकार से प्राप्त शिक्षा को कानूनी मान्यता प्राप्त नही होती। व्यवसाय, विशेष तौर पर नौकरिया और तकनीकी व्यवसाय अधिकाशत स्कूली प्रमाण-पत्र पर निर्भर करते हैं, अत गैरस्कूली शिक्षा केवल एक व्यक्तिगत प्रयत्न होकर रह जाती है जिसे कोई वास्तविक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नही होती। प्रमाण-पत्र को ही विशेषज्ञता मान लिया जाता है जिसका नतीजा सिर्फ यही नही होता कि बहुत से लोग शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जाते हैं—बल्कि यह भी कि मानव समाज बहुत स वास्तविक अर्थो मे योग्य शिक्षको एव अन्य विशेषज्ञो के योगदान से भी वचित रह जाता है। स्कूली शिक्षा तो बहुत-सी औपचारिकताए पूरी करने पर ही—जिनम से अधिकाश अनावश्क है—किसी को शिक्षा का अधिकार देती है। एक निश्चित प्रणाली और पाठ्यक्रम को अस्वीकार कर देन का तात्पर्य शिक्षा क अधिकार से ही वचित हो जाना है। यदि शिक्षा एक बुनियादी मानव अधिकार है तो प्रत्येक व्यक्ति को यह हक होना चाहिए कि वह अपनी आवश्यकता और प्रवृत्ति के अनुकूल शिक्षा-प्रक्रिया का चुनाव या विकास कर सके, यानी उसे अपनी आवश्यकता के अनुकूल शिक्षा-सस्था या विषय ही नही, अपना पाठ्यक्रम चुनने का भी अधिकार होना चाहिए। किसी एक अरुचिकर पाठ्य-पुस्तक या शिक्षण शैली मे रुचि विकसित न कर पाने के दण्ड के रूप मे शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार की समाप्ति कर देना बुनियादी मानव अधिकारो पर कठोर आघात ही समझा जाएगा।

यह भी द्रष्टव्य है कि इस स्कूली शिक्षा प्रणाली क कारण शिक्षण-प्रक्रिया कुछ पेशेवर शिक्षको तक सीमित होकर रह गई है। किसी भी विषय का सही शिक्षक उस विषय के व्यावहारिक क्षेत्र मे सक्रिय व्यक्ति ही हो सकता है। लेकिन वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मे सम्बन्धित विषय के व्यावहारिक अनुभव और उसके विकास म सक्रिय रूप से रत व्यक्तियो की बजाय उन लोगो का महत्त्व अधिक है जो किसी समय प्राप्त एक प्रमाण-पत्र के आधार पर उस विषय के पेशेवर शिक्षक मान लिय गए थे। इस तरह के पेशेवर शिक्षको के लिए तत्सम्बन्धी अद्यतन शोध की जानकारी होना न केवल आवश्यक नही होता—जब तक कि वह पाठ्यक्रम का हिस्सा न बन जाए—बल्कि व्यावहारिक अनुभव यही बताता है कि इस ओर उनकी रुचि भी निरन्तर कम ही होती जाती है। यदि सैद्धान्तिक स्तर पर हम ऐसे पेशेवर शिक्षको की रुचि एव नीयत पर सन्देह न भी करें तो भी यह तय है कि अधिकाशत सम्बन्धित विषय के वास्तविक

सामर्थ्य भी शिक्षा से ही प्राप्त हो सकती है। अतः जिस समाज में शिक्षा का अधिकार अनिवार्य और निःशुल्क न हो, उस समाज में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वयमेव ही बाधित हो जाती है। अभिव्यक्ति का अधिकार एक सकारात्मक धारणा है, अतः उसके लिए केवल निषेधात्मक परिस्थितियों का अभाव ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए सकारात्मक परिस्थितियों की सक्रिय उपस्थिति भी उतनी ही आवश्यक है और शिक्षा की अनिवार्यता और सांगोपांगता एक ऐसी ही बुनियादी परिस्थिति है।

जब अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य की चर्चा हो रही है तो उसके एक और शिक्षाशास्त्रीय पक्ष पर विचार कर लेना उचित होगा। सामान्यतः इस पक्ष पर शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत कम विचार हो सका है। मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 19 में अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अधिकार के अन्तर्गत बिना किसी बाधा के सूचनाएं प्राप्त करने और देने तथा किसी भी प्रसार-यन्त्र के माध्यम से अपने विचारों का अबाधित प्रचार करने के अधिकार को मान्यता दी गई है। मैं इस अधिकार के राजनैतिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके एक और शैक्षणिक पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण ही प्रसार माध्यमों पर किसी भी प्रकार के सेंसर या नियन्त्रण का विरोध किया जाता है। लेकिन मैं समझता हूं कि हमें इस सम्बन्ध में अपने मत की अभिव्यक्ति और तथ्यात्मक जानकारी के प्रस्तुतीकरण के बीच भेद करना होगा। सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही प्रकार के प्रसार माध्यमों और सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित ग्रन्थों तक में कई बार तथ्यों को विकृत करने, या उन्हें अधूरे रूप में प्रस्तुत करने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। सामान्यतः किसी भी प्रकार की राय हमें तभी गहराई से प्रभावित करती है जब वह तथ्यों पर आधारित हो लेकिन तथ्यों को अधूरे या विकृत रूप में प्रस्तुत करने पर हमारी शिक्षा-प्रक्रिया भी दूषित होती है जिससे शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य, मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास निर्दोष नहीं रह पाता। लेकिन साथ ही इन माध्यमों पर किसी तरह की रोक लगाने के खतरे भी बहुत स्पष्ट हैं—यह भी स्पष्ट है कि अपने व्यावसायिक, साम्प्रदायिक या राजनैतिक पूर्वाग्रहों के कारण इन माध्यमों में किसी भी तरह की स्व-निर्मित मर्यादाओं का पालन करने की प्रवृत्ति भी बहुत कम दिखाई देती है। इस समस्या को रेखांकित करने और आपसे उस पर विचार करने के आग्रह के अतिरिक्त मैं भी फिलहाल इसका कोई निर्दोष विकल्प प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं हूं।

शिक्षा को एक बुनियादी मानव अधिकार मान लेने पर यह देखना भी आवश्यक हो जाता है कि हमारी शिक्षा की वर्तमान पद्धति किस सीमा तक

मानव अधिकारो की भावना से अनुप्राणित एव उन्हे पुष्ट करने वाली है। भारत ही नहीं, दुनिया के सभी देशो म स्कूली प्रणाली ही शिक्षा की स्वीकृत प्रणाली है। ऐसा नही कि स्कूल स बाहर के जरियों स शिक्षा प्राप्त करने पर कोई प्रतिबन्ध है, लकिन इस प्रकार से प्राप्त शिक्षा को कानूनी मान्यता प्राप्त नही होती। व्यवसाय, विशेष तौर पर नौकरिया और तकनीकी व्यवसाय अधिकाशत स्कूली प्रमाण पत्र पर निर्भर करत हैं, अत गैरस्कूली शिक्षा कवल एक व्यक्तिगत प्रयत्न होकर रह जाती है जिसे कोई वास्तविक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नही होती। प्रमाण पत्र को ही विशेषज्ञता मान लिया जाता है जिसका नतीजा सिफ यही नही होता कि बहुत से लोग शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जात हैं—बल्कि यह भी कि मानव समाज बहुत स वास्तविक अर्थो म योग्य शिक्षको एव अन्य विशेपज्ञो के योगदान से भी वचित रह जाता है। स्कूली शिक्षा ता बहुत-सी औपचारिकताए पूरी करन पर ही—जिनम स अधिकाश अनावश्यक हैं—किसी को शिक्षा का अधिकार देती है। एक निश्चित प्रणाली और पाठ्यक्रम को अस्वीकार कर देने का तात्पर्य शिक्षा के अधिकार स ही वचित हो जाना है। यदि शिक्षा एक बुनियादी मानव अधिकार है तो प्रत्येक व्यक्ति को यह हक होना चाहिए कि वह अपनी आवश्यकता और प्रवृत्ति क अनुकूल शिक्षा प्रक्रिया का चुनाव या विकास कर सके, यानी उसे अपनी आवश्यकता के अनुकूल शिक्षा-सस्था या विपय ही नही, अपना पाठ्यक्रम चुनन का भी अधिकार होना चाहिए। किसी एक अरुचिकर पाठ्य-पुस्तक या शिक्षण शैली म रुचि विकसित न कर पाने के दण्ड के रूप म शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार की समाप्ति कर देना बुनियादी मानव अधिकारो पर कठोर आघात ही समझा जाएगा।

यह भी द्रष्टव्य है कि इस स्कूली शिक्षा प्रणाली क कारण शिक्षण प्रक्रिया कुछ पेशवर शिक्षको तक सीमित हाकर रह गई है। किसी भी विषय का सही शिक्षक उस विपय के व्यावहारिक क्षेत्र म सक्रिय व्यक्ति ही हो सकता है। लेकिन वतमान शिक्षा प्रणाली मे सम्बन्धित विपय के व्यावहारिक अनुभव और उसके विकास म सक्रिय रूप स रत व्यक्तियों की बजाय उन लोगो का महत्व अधिक है जो किसी समय प्राप्त एक प्रमाण पत्र के आधार पर उस विपय के पशेवर शिक्षक मान लिय गए थ। इस तरह के पशेवर शिक्षको के लिए तत्सम्बन्धी अधुनातन शोध की जानकारी होना न केवल आवश्यक नही होना—जब तक कि वह पाठ्यक्रम का हिस्सा न बन जाए—बल्कि व्यावहारिक अनुभव यही बताता है कि इस ओर उनकी रुचि भी निरन्तर कम ही होती जाती है। यदि सैद्धान्तिक स्तर पर हम एस पेशवर शिक्षको की रुचि एव नीयत पर सन्देह न भी करें तो भी यह तय है कि अधिकाशत सम्बन्धित विपय क वास्तविक

विशेषज्ञ वे ही होते हैं जो उसमे व्यावहारिक स्तर पर सक्रिय हो। लेकिन वर्तमान प्रणाली म शिक्षा का अधिकार इस प्रकार के विशेषज्ञो की बजाय पेशेवर शिक्षको पर ही अधिक निर्भर करता है। यदि कोई शिक्षार्थी इस तरह के किसी विशेषज्ञ से सीधे शिक्षा प्राप्त करना ही चाहे, तो उसे कोई कानूनी मान्यता प्राप्त नही होती और इस तरह प्राप्त शिक्षा के आधार पर उसे किसी उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवसाय म प्रवेश नही मिल सकता। यह आश्चर्यजनक है कि केवल समाज-विज्ञानो के क्षेत्र मे ही नही, तकनीकी और व्यावसायिक मामलो मे भी शिक्षा का उत्तरदायित्व व्यावहारिक अनुभव रखने वाले लोगो की बजाय पेशेवर शिक्षको को अधिक सौपा जाता है। प्रकारान्तर से यह ज्ञान देने एव ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार को बाधित करना है।

आधुनिक समाजो मे शिक्षा व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार राजसत्ता अथवा अर्थसत्ता के ही किसी-न किसी रूप पर आश्रित रहती है। इसका एक नतीजा यह हो सकता है—जो अक्सर देखा भी जाता है—कि यदि सामान्य परिस्थितियो मे न भी सही तो विशेष परिस्थितियो मे तो शिक्षा की स्वायत्तता एक मखौल बनकर रह जाती है। शिक्षा एक स्वायत्त प्रक्रिया होने की बजाय राज्य अथवा पूजी के सस्थानो के हितो की रक्षक हो जाती है। शिक्षा समाज मे परिवर्तन लाने का जितना कारगर उपाय है उससे भी कही अधिक वह यथास्थिति को बनाए रखने मे सहायक हो सकती है। जिन सत्ता-सस्थानो पर शिक्षा-व्यवस्था आश्रित होती है, उनके हितों की अप्रत्यक्ष रक्षक हुए बिना उसका अस्तित्व बना रहना मुश्किल होता है। इतिहास मे इस बात के कई प्रमाण हैं कि जब कभी भी किसी सम्प्रदाय या राज्य जैसे सस्थान ने सर्वसत्तावादी नीति अख्तियार की है तो उसका पहला शिकार शिक्षा सस्थान ही हुए हैं। साथ ही, क्रान्तिकारी नेतृत्व ने भी जिस व्यवस्था को बदलना चाहा, उसने उस व्यवस्था पर आश्रित शिक्षा-प्रणाली और सस्थाओ को छोड देने का आग्रह किया है। पाठ्यक्रमो के माध्यम से ही नही, अपनी पूरी कार्य प्रणाली स, जिसे इलिच ने 'गुप्त पाठ्यक्रम' कहा है, वर्तमान शिक्षण सस्था यथास्थितिवादी प्रवृत्तियों की ही पोषक होती है। राज्य या कोई वर्ग विशेष अथवा अपनी स्थिति का लाभ उठाकर कोई शिक्षक भी बालको पर अपनी राय थोप सकता है और उनका अपने या अपने प्रिय सिद्धान्तो के पक्ष म अनुकूलन कर सकता है। इस तरह के प्रयत्न विभिन्न राजनैतिक दलो, सम्प्रदायो और दूषित सास्कृतिक सगठनो द्वारा होत रहते हैं। निश्चय ही इस तरह की शिक्षा-प्रणाली और प्रक्रिया को मानव अधिकारो की विरोधी ही कहना होगा—चाहे सम्बन्धित तत्त्वो को उसकी छूट मानव अधिकारो और बुनियादी स्वतन्त्रताओ क नाम पर ही क्यो न मिली हो। इसलिए मानव अधिकारो की दृष्टि स शिक्षा-प्रक्रिया का स्वायत्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

शिक्षा ज्ञान के प्रसार की प्रक्रिया है, इसलिए ज्ञान को गुप्त रखने और उसे जटिल बनाने के प्रयत्नो को भी शिक्षा प्राप्त करने के बुनियादी अधिकार का विरोध करना ही कहा जाएगा। ज्ञान समग्र मानवीय चेतना की सम्पत्ति है, अत. उसे कोई भी व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र भी निजी सम्पत्ति की तरह सिर्फ अपने तक ही सीमित नही रख सकता। आधुनिक काल म कई बार कई देशो मे कुछ जानकारियो—विशेषकर वैज्ञानिक जानकारियो—को गुप्त रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह न केवल मानवीय चेतना के विकास के प्रतिकूल है बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक अधिकारो के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा-पत्र की मूल भावना के भी प्रतिकूल है। इस प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद—19 मे इस तरह की गोपनीयता को पूर्णतया अनुचित मानते हुए इस क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यहा यह गौरतलब है कि इस अधिकार की व्याप्ति केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही नही, शिक्षा के क्षेत्र तक भी है।

लेकिन अन्त मे, मै यह स्पष्ट कर देना चाहूगा कि आधुनिक समाजो की वास्तविक शिक्षा-प्रक्रिया मे—जिसका लक्ष्य मानव-व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है—किसी भी स्कूल, विश्वविद्यालय, शिक्षक या परिवार की भी अपेक्षा समग्र सामाजिक वातावरण की अधिक भूमिका रहती है। आधुनिक समाज मे परिवार या स्कूल बाहरी समाज की विकृतियो से सुरक्षित ऐसी सस्थाए नही रही है जो शिक्षार्थी को विशेष सरक्षण प्रदान कर सकें। अखबारो, पत्रिकाओ, फिल्मो, रेडियो और दूरदर्शन जैसे माध्यमो से पूरा समाज अपनी सारी अच्छाइयो-बुराइयो सहित इन पारम्परिक रूप से सुरक्षित सस्थाओ मे भी पूरी तरह झाकने लगा है। इन माध्यमो का असर किसी भी शिक्षक या पाठ्य-पुस्तक की तुलना मे अधिक है। इसलिए अब शिक्षा-प्रक्रिया पर सोचते समय केवल स्कूल या परिवार के बारे मे ही नही, पूरे सामाजिक वातावरण के बारे मे सोचना आवश्यक हो गया है। बर्ट्रेंड रसेल ने शिक्षा की प्रक्रिया के बारे मे विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि अधिकाश बच्चे अनजाने ही अपने माता-पिता और अपने अध्यापको के असली विचारो को ग्रहण कर लेते हैं, लेकिन आम तौर पर वे उनकी उन धारणाओ को ग्रहण नही करते जिनका वे प्रचार तो करते हैं, पर वास्तव मे जो उनकी सच्ची धारणाए नही होती। अब सामाजिक वातावरण माता-पिता या अध्यापक से अधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है, इसलिए यह देखना होगा कि समाज मानव अधिकारो की प्रतिष्ठा के लिए वास्तव मे कितना चिन्तित है। यदि विभिन्न सरकारें और सामाजिक सस्थान मानव अधिकार की धारणाओं का प्रचार करने मे तो रुचि लेते हैं लेकिन वास्तव मे ये उनकी सच्ची धारणाए नहीं हैं तो शिक्षा से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि उसकी प्रक्रिया और व्यवस्था

मानव अधिकारो की वास्तविक अर्थों म पोषक हो सकेगी।

अन्त मे मैं प्रसिद्ध मानववादी अर्थशास्त्री शुमाकर के इस मन्तव्य के साथ अपनी बात को आपके विचारार्थ रखना चाहूगा कि शिक्षा की समस्याए हमारे युग की गम्भीरतम समस्याओ का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इन्हें सगठन, प्रशासन या अधिक रुपया खर्च करके नही सुलझाया जा सकता, हालाकि इन सबका अपना महत्त्व है। हम दरअसल एक तत्त्वमीमासीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्त्वमीमासीय होना चाहिए। जो शिक्षा हमारी मुख्य धारणाओ को सुस्पष्ट नही करती, वह केवल प्रशिक्षण है या मात्र एक व्यसन है। सच बात यह है कि हमारी मुख्य धारणाए ही गडबडा गई हैं और जब तक आज का तत्त्वमीमासा विरोधी वातावरण बना रहेगा, अव्यवस्था और बढती जाएगी। ऐसी हालत मे शिक्षा मनुष्य का सबसे बडा ससाधन बनने के बजाय विनाश का माध्यम ही बनेगी।

